पास गया परन्तु हृदय में विश्वास होने योग्य कहीं से योग्य उत्तर न मिला अन्त में भाग्यवशात् श्री पं० विनायकशास्त्री बेतालजी मंत्री मनोरथ सहकारि मण्डली से मिला और मेरे मनोरथ पूर्ण हुए जैसा मैंने चाहा था वैसा संपूर्ण ब्रह्मज्ञानशास्त्र का भाषान्तर इन्होंने कर दिया और मूलग्रन्थ का भी परिशोधन कर दिया। अनन्तर वह पुस्तक लेके मैं श्री दं० स्वामी विशुद्धानन्दजी के पास गया और उनको दिखाया। उन्होंने देखकर प्रसन्न होके कहा कि यह पुस्तक ब्रह्मज्ञान वेद उपनिषद् सभों का सार है तुम इसको शीघ्र छपवाओ जिससे संसारी जीवों का कल्याण हो इसमें ईश्वर के मिलने का बहुत ही सीधा मार्ग दिखाया है इस एक ही पुस्तक से गृहस्थ, पण्डित, सन्यासी, सर्व मनुष्यों का कल्याण हो सकता है। यह सुन के ॐ नमोनारायणाय कहते हुए वहां से उठ के श्रीदं० स्वामी भास्करानन्दजी के पास में गया और पुस्तक उनके चरणों के पास रख के बोला कि आप इस पुस्तक को दृष्टि से पवित्र कर दीजिये। स्वामीजी ने पुस्तक देख और पढ़ कर प्रसन्न हो के कहा कि पुस्तक बहुत ही उत्तम है उपनिषदों का सार है तुम शीघ्र ही छपवा कर इसका प्रचार करो तुम्हारा भी कल्याण होगा। श्री पण्डित अयोध्यानाथ वेदान्ती गाजीपुर, सरईयां ग्रामनिवासी ने इस पुस्तक को देखकर बहुत ही प्रशंसा की। इसी कारण से मैं इस पुस्तक को छपवा कर सर्वमान्यवर परमहंस साधु विद्वान् महात्माओं की सेवा में समर्पण करता हूं। श्रीसम्वत् १९५४।

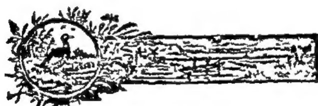
आपका सेवक—

मेरा निज पुत्र बाबू रामप्रसाद लाल ने इस पुस्तक में बहुत कुछ सहायता दी इसके लिये अनेक आशिर्वाद देता हूं और ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि इसकी बुद्धि ऐसीही हरी-भजन में लगी रहे।

इस पुस्तक के प्रकाशित करने में बाबू रामचरण लाल इलाहाबाद निवासी की सहायता के लिये अनेक धन्यवाद है और बाबू श्रीकृष्ण दिलदार नगर निवासी को भी धन्यवाद है।

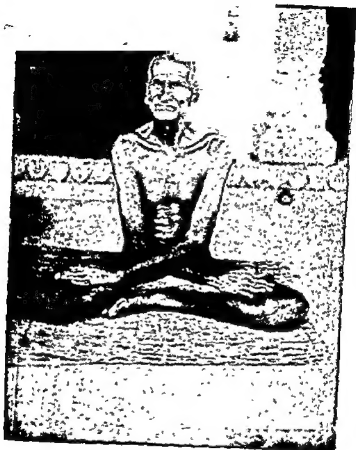
आपका शुभचिन्तक—

राजवैद्य रामसेवकलाम गुप्त
दिलदारनगर।



प्रियं श्वशुरयोः कुर्याः पुत्रयोः परिपालनम् । -
धर्ममेवाप्रमादं च शोकं मद्विरहात्तु मा ॥ ३० ॥





श्री स्वामी भास्करानन्द सरस्वती जी

काशी

प्रियं श्वशुरयोः कुर्याः पुत्रयोः परिपालनम् । -
धर्ममेवाप्रमादं च शोकं मद्विरहात्तु मा ॥ ३० ॥

॥ ॐ ॥

ॐ तत्सत्परमात्मनेनमः ॐ

ॐ तत्सत् ॐ । ॐ सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु माविद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ॐ शंनो मित्रः शंवरुणः शंनोभवत्वर्यमा । शन्न इन्द्रो बृहस्पतिःशंनो विष्णुरुरुक्रमः ॥ ॐ नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायोत्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वमेव प्रत्यक्षंब्रह्म वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतुअवतु माम् । अवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ॐ ॥

ॐ एकदा यज्ञशालायां रघुवंशशिरोमणौ ।
श्रीरामे सुखमासीने सामन्तैः श्रेष्ठिभिर्वृते ॥१॥
वसिष्ठो वामदेवोऽत्रिर्वाल्मीकिर्नारदो भृगुः ।
पराशरो याज्ञवल्क्यो भरद्वाजोऽङ्गिरास्तथा ॥२॥
महर्षयो ह्यगस्त्याद्याः समाजग्मुर्दिदृक्षवः ।
पितामहः शिवो देवाः पुरन्दरपुरोगमाः ॥३॥

प्रत्युत्थायार्घ्यपाद्याद्यैः सुसत्कृत्याभिवाद्य च ।
सुखासीनानमून् रामः प्रवक्तुमुपच क्रमे ॥४॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्र जी ने उनके आतेही खड़े हो के अर्घ्य पाद्य आदि से उत्तम सत्कार किया और नमस्कार करके, जब वे सुख से बैठ गये, तब बोले ॥

भवन्तः सर्वशास्त्रज्ञास्त्रिकालज्ञाः कृपालवः ।
सन्देहमेकं मनसो ममापाकर्तुमर्हथ ॥५॥

अर्थ—आप सब लोग सर्वशास्त्र के और भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के जानने वाले हैं और दयालु हैं। सो एक मेरे मन में सन्देह है उसको आप लोग दूर करें ॥

श्रुत्वा वसिष्ठस्तद्वाक्यमब्रवीद्रामपृच्छयताम् ।
महानुभावः सर्वं ते वाल्मीकिरभिधास्यति ॥६॥

अर्थ—यह सुन के वसिष्ठजी बोले कि महाराज! जो आपको सन्देह हो सो पूछिये महानुभाव श्री वाल्मीकि ऋषि सब सन्देह दूर करेंगे ॥

वसिष्ठवचनं सर्वे साधुसाध्वित्यपूजयन् ।
रामचन्द्रोऽपि वाल्मीकेः पादयोः कृतमस्तकः ॥७॥
उवाच भगवानस्ति त्रिकालज्ञेषु संमतः ।
कृपा यद्यस्ति मयि ते भज्येत मम संशयः ॥८॥

अर्थ—वसिष्ठ जी का वचन सुन के सब ऋषि लोग बोल उठे कि ठीक है ठीक है और प्रशंसा करने लगे, रामचन्द्र जी भी श्रीवाल्मीकि जी के चरणों पर सिर रख के बोले कि आप

त्रिकालज्ञों में श्रेष्ठ हैं जो आपकी मुझपर कृपा है तो मेरा सन्देह अवश्य दूर होजायगा ॥

अब्रवीदथ वाल्मीकिर्मर्यादापुरुषो भवान् ।
तपोधनश्च सर्वज्ञो मां श्रेष्ठीकृत्य पृच्छसि ॥९॥
पृच्छाशु संशयो मा भूत् तव यद्यदभीप्सितम् ।
अपृच्छद्रामचन्द्रोऽथ वाल्मीकिं विनयानतः ॥१०॥

अर्थ—श्रीवाल्मीकि जी ने उत्तर दिया कि महाराज आप मर्यादापुरुष हैं, तपोधन और सर्वज्ञ हैं जो आप मुझे बड़ाई देकर पूछते हैं। अच्छा जो २ आपकी इच्छा हो सो २ पूछिये, पूछने में सन्देह न करना। इस पीछे रामचन्द्र जी नम्रता के साथ बोले ॥

रामः क्षत्रकुलस्याभूज्जिघांसुर्भार्गवः कथम् ।
क्षत्रियैरपराद्धं हि पर्शुरामस्य किं मुनेः ॥११॥

अर्थ—परशुराम जी ने क्षत्रियकुल के नाश की इच्छा क्यों की। और उनका क्षत्रियों ने क्या अपराध किया था ॥

केचित् स्वधर्म्ममुत्सृज्य वैश्यतां भेजिरे नृपाः ।
कातराश्च परेऽभवन् वदन्तीत्थं महर्षयः ॥१२॥

अर्थ—कोई क्षत्रिय अपना धर्म्म छोड़कर वैश्यभाव को प्राप्त हुए और कोई कायर होगये, ऐसा बड़े बड़े ऋषि लोग कहते हैं ॥

नात्राशिष्यत तद्बीजमितिह श्रूयते तदा ।
कुतोऽभूत् क्षत्रियकुलं संशयं छिन्धि मे परम् ॥१३॥

अर्थ--इस प्रकार से क्षत्रियों का बीज भी शेष नहीं रहा, ऐसा सुनते हैं। तब यह क्षत्रिय वंश कहां से आया, यह मेरा दूसरा सन्देह दूर कीजिये॥

इति श्रुत्वा वचः प्राह वाल्मीकिः पुरुषोत्तमम्।
सावधानेन मनसा श्रूयतां कथयामि तत् ॥१४॥

अर्थ—श्री वाल्मीकि ऋषि रामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन कर बोले कि सावधान चित्त से सुनिये जो आपने पूछा है सो मैं कहता हूं॥

यथा परशुरामस्य जन्म रोषश्च राजसु।
जघान मातरं भ्रातॄन् कार्तवीर्यार्जुनं च सः ॥१५॥
क्षत्रियान्तं तथा चक्रे संवादं जनकेन च।
यथा च वैश्य तां प्राप् राजन्या रक्षिताः पुनः॥१६॥
राजनीतिस्तथोङ्कारमाहात्म्यं कथितं यथा।
वेदानां सारभूतं यत् तत् सर्वं कथयाम्यहम् ॥१७॥

अर्थ—जैसे श्री परशुरामजी का जन्म हुआ और उनका क्षत्रियों पर क्रोध भया और जैसे उन्होंने अपनी मा और भाइयों को मारा तथा सहस्रार्जुन का वध किया। और जैसे क्षत्रियों का नाश किया और राजा जनक से संवाद किया और जैसे क्षत्रिय लोग वैश्यधर्म्म को प्राप्त हुए और फिर बच गये और जैसे राजनीति तथा ओङ्कार का माहात्म्य कहा यह और वेदों का सारांश जो है, यह सब मैं कहता हूं। सुनो—

अत इतः सदसः शठनास्तिकान्
विमुखगान् श्रुतितोऽथ बहिःकुरु।

वदति चेति सपद्यभवत् तथा
न खलु रामसभा सखला यथा ॥१८॥

अर्थ—इस लिये हे रामचन्द्र जी जो वेद से विमुख शठ और नास्तिक हों उनको इस सभा से अलग कर दीजिये। श्रीवाल्मीकि ऋषि ने ज्योंहीं ऐसी आज्ञा दी त्योंहीं वैसा ही हुआ और श्रीरामचन्द्र जी की सभा निश्चय से खल सहित नहीं रही।

ॐ इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालसुतकृत
भाषाटीकायां प्रथमः सर्गः ॥१॥



वाल्मीकिरुवाच।

वंशे पुरूरवोराज्ञो गाधिर्नाम नृपोऽभवत्।
तस्य सत्यवती नाम दुहिता तामयाचत ॥१॥
ऋचीको मुनिरभ्येत्य न स मेने वरं वरम्।
इत्यृचार्कं नृपः प्राह पणमस्याः समाहर ॥२॥

अर्थ—वाल्मीकि ऋषि रामचन्द्र जी से कहने लगे कि पुरूरवा राजा के वंश में 'गाधि' गाधि नाम एक राजा हुआ उसकी सत्यवती नाम की एक कन्या थी। ऋचीक मुनि ने आकर राजा से उसको मांगा परन्तु राजा ने उस वर को योग्य न समझ कर उनसे कहा कि आप पहले इसका (स्वयंकर का)

जो पण है उसको ले आइये[1] ॥

दिव्याश्वानां सहस्रैकं पणोऽस्याश्चन्द्रवर्चसाम् ।
नृपाशयं स विज्ञाय समाराध्य प्रचेतसम् ॥३॥
तादृक्सहस्रमश्वानांलब्ध्वा राज्ञे न्यवेदयत् ।
ततो मुनी राजसुतामुद्वाह्य विजहार ह ॥४॥

अर्थ—चन्द्र के समान कान्तिवाले हजार दिव्य घोड़े इसका पण है। वह ऋचीक मुनि राजा के आशय को जान के वरुण की आराधना करके वैसेही हजार घोड़े पाकर उन्होंने (लाकर) राजा को दिये फिर वे कन्या से विवाह करके विहार करने लगे ॥

कियत्यपि गते काले महिषी गाधिभूभुजः ।
सुतार्थिनी सुतामाह साप्यर्थं तमियेष च ॥५॥

अर्थ—कुछ समय बीतने पर गाधि राजा की पट्टरानी ने पुत्र की इच्छा से कन्या से बातचीत की वह भी कन्या उसी अर्थ को (पुत्र होने को) चाहती थी ॥

उभे ऋचीकमेत्यार्थमर्थयामासतुः स्वकम् ।
ऋचीकस्तदभिज्ञाय संसाध्य द्वे चरू पृथक् ॥६॥

अर्थ—मा बेटी दोनों ऋचीक मुनि के पास आकर अपने २ अर्थ की प्रार्थना करने लगीं और उनका अर्थ समझकर मुनि ने दो अलग २ बरतन में दो चरु (भात) बनाया ॥

---

[1] राजा ने यह विचार किया कि नकार करना योग्य नहीं है। जब मुनि जी पण को पूरा न कर सकेंगे तो आपही आप कन्या के पाने में अयोग्य होजायेंगे। ऐसा समझ कर पण लाने को कहा।

भार्यायै ब्राह्ममन्त्रेण राज्यै राजन्यमन्त्रतः ।
अथ स्नानार्थमगमत् कश्चित् कालस्तमन्वियात् ।७।

अर्थ—अपने स्त्री के लिये ब्राह्मणयोग्य मन्त्र से और रानी के लिये राजा के योग्य मन्त्र से बनाया। इसके उपरान्त वे मुनि स्नान करने को गये जिसमें उनको कुछ समय लगा॥

स्वभावतोऽधिकः पत्न्यां स्नेहस्तस्माच्च मच्चरोः ।
श्रेष्ठः कन्याचरू राज्ञी विचार्येत्थं बुभोज तम् ॥८॥

अर्थ—स्वभाव से स्त्री में पति का स्नेह अधिक होता है, इसलिये मेरे चरू (हांड़ी) से कन्या के चरू (हांड़ी) का भात श्रेष्ठ अवश्य है। ऐसा रानी ने विचार करके कन्या के चरू का भात भोजन कर लिया॥

कन्यायै स्वं चरुं प्रादात् समायातो मुनिस्तदा।
तपोबलेन सोऽज्ञासीच्चर्वोर्विनिमयं तयोः ॥९॥

अर्थ—और कन्या को अपने चरू का भात दिया। उसी समय जब मुनि जी आये और तपस्या के बल से उन दोनों के चरुओं के भात का बदलना मालूम किया॥

रुषा प्राह निजां पत्नीं किं त्वयानुचितं कृतम् ।
सुतश्चरोर्व्यत्ययात् ते क्रोधी शस्त्रधरो भवेत् ॥१०॥

अर्थ—तब क्रोध से अपनी स्त्री से कहा कि तूने अनुचित काम किया। चरू का पलटा करने से तुझे क्रोधी और शस्त्र का धारण करने वाला पुत्र होगा॥

दयालुर्मुनिराहेत्थं सत्यवत्यार्थितः पुनः ।
पुत्रः शान्तोऽथ पौत्रस्ते चरोरनुगुणो भवेत् ॥११॥

अर्थ—फिर सत्यवती के प्रार्थना करने पर दयालु मुनि ऐसा बोले कि (खैर) पुत्र तो शान्त होगा परन्तु तेरा पौत्र (पोता) चरु के गुण के अनुसार होगा॥

शृणु राम सुतस्तस्याः सत्यवत्या बभूव ह ।
जमदग्निरिति ख्यातः शान्तो ब्रह्मर्षिसंमतः ॥१२॥

अर्थ—वाल्मीकि ऋषि रामचन्द्रजी से कहते हैं कि हे राम उस सत्यवती के पुत्र हुआ, वह जमदग्नि नाम से विख्यात शान्तस्वभाव और ब्रह्मर्षि लोगों में मान्य हुआ॥

सत्यवत्यप्यभूल्लोके पावनी कौशिकी नदी ।
जमदग्निः सुतां रेणो रेणुकां परिणीय च ॥१३॥
तस्यामुत्पादयामास गुणानग्र्यान् सुतान् बहून् ।
अन्त्यः परशुरामोऽभूद्यागुणाग्र्योंऽशधृग्घरेः ॥१४॥

अर्थ—सत्यवती भी लोगों को पवित्र करनेहारी कौशिकी नाम की नदी बन गई। उसके पुत्र जमदग्नि ने रेणु राजा की कन्या रेणुका से विवाह करके उसमें जो गुणों में श्रेष्ठ नहीं ऐसे अनेक पुत्र उत्पन्न किये। उन सभों में छोटा परशुराम हुआ जो गुणों में श्रेष्ठ और श्री विष्णु भगवान् का अंशधारी था॥

हैहयानां नृपाणां तु नाशकं यं वदन्ति च ।
त्रिःसप्तकृत्वस्तुमहीं निःक्षत्रामकरोच्च यः ॥१५॥

अर्थ—जिसको हैहय वंश के क्षत्रियों के नाश करने वाला कहते हैं और जिसने इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया।

अथ क्षत्रियवंशस्य नाशः कथमिति ब्रुवे ।
बभूव हैहयेष्वग्र्यः कार्तवीर्यार्जुनो नृपः ॥१६॥
भगवन्तं समाराध्य दत्तात्रेयं महामुनिम् ।
सहस्रमाप बाहूनां जिग्ये चारीन् रणाजिरे ॥१७॥

अर्थ—अब क्षत्रिय वंश का नाश कैसे हुआ सो कहता हूं। हैहयवंश में श्रेष्ठ कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन नाम (कार्तवीर्यार्जुन) एक राजा हुआ, उसने भगवान् महामुनि श्रीदत्तात्रेयजी की आराधना (सेवा) करके हज़ार हाथ पाये और संग्राम में शत्रुओं को भी जीता॥

स एकदा सह स्त्रीभिर्जलक्रीड़ां समाचरत् ।
नर्मदायास्तटे रम्ये बाहुजातमदोद्धतः ॥१८॥

अर्थ—वह सहस्रार्जुन एक समय रमणीय नर्मदा के तीर पर राजमद से उन्मत्त होकर स्त्रियों सहित जलक्रीड़ा कर रहा था॥

सहस्रबाहुभिः स्वीयैरुरुधे नर्मदाजलम् ।
तदानीमेव पौलस्त्यो रावणो राक्षसाधिपः ॥१९॥
कुर्वन् दिग्विजयं प्राप्तो रेवातीरं यदृच्छया ।
सन्ध्यामुपास्य गायत्रीं प्रजप्य च पठन् यजुः॥२०॥
व्यस्तप्रवाहमद्राक्षीदकस्मान्नार्मदं जलम् ।
पृष्टस्तत्कारणं प्राह मन्त्री कर्मार्जुनस्य तत्॥२१॥

अर्थ—उसने अपनी हज़ार भुजाओं से नर्मदा के जल

को रोक दिया। उसी समय पुलस्त्य ऋषि का पोता राक्षसों का अधिपति रावण दिग्विजय करता हुआ अपनी इच्छा से नर्मदा के तीर पर आया। उसने सन्ध्या और गायत्री जप कर के यजुर्वेद का पाठ करते हुए अचानक देखा कि नर्मदा का जल उलटा बह रहा है। मन्त्री से पूछा कि इसका क्या कारण है तब मंत्री ने वह (जल रोक कर उलटी नदी बहाने का) कार्तवीर्यार्जुन का कर्म कहा॥

तमसह्यमहङ्कारी वचः श्रुत्वा दशाननः ।
समाप्य नैत्यकं तत्र यातो यत्र तु हैहयः ॥२२॥

अर्थ—अहङ्कारी रावण उस असह्य वचन को सुन के अपने नित्यकर्म को समाप्त करके जहां सहस्रबाहु था वहां गया।

स दृष्ट्वा रावणं क्रोधात् कोयमानन्दभङ्गकृत् ।
इत्युक्त्वा संनियम्याशुबध्वा निन्ये स्वकं पुरम् ॥२३॥

अर्थ—उसने (राजा ने) रावण को देख के क्रोध से कहा कि यह आनन्द का भङ्ग करने वाला कौन है और शीघ्रही रावण को कैद करके और बांध करके अपने नगर में लेगया।

कामं मुमोच तं पश्चात् पुलस्त्यतनयार्थितः ।
एवं प्रभावो नृपतिः स सहस्रार्जुनोऽभवत् ॥२४॥

अर्थ—यद्यपि इसके पीछे पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा ऋषि (रावण के पिता) की,अपने पुत्र के छोड़ दिये जाने की प्रार्थना से,न चाहते हुए भी राजा ने,रावण को छोड़ दिया,ऐसा प्रतापी वह राजा सहस्रार्जुन हुआ॥

एकदा जमदग्नेः स आश्रमं मृगयावशात् ।
जगाम मुनिना तेन ससैन्योऽप्यतिथीकृतः॥२५॥

अर्थ—वह राजा एक समय मृगया (शिकार) के प्रसङ्ग से जमदग्नि ऋषि के आश्रम में गया, उस मुनि ने उसको सेना समेत अतिथि (मेहमान) बनाया ॥

एवं सुसत्कृतो राजा पप्रच्छ निजमन्त्रिणम् ।
कुतो नृपार्हवस्तूनि सद्यः काननवासिनः ॥२६॥

अर्थ—ऐसा सत्कार करने पर राजा ने अपने मंत्री (प्रधान) से पूछा कि राजाओं के योग्य वस्तु जङ्गल में रहने वाले के पास, तत्कालही कहां से आई ॥

मंत्री प्राह महाराज मुनेरस्ति निकेतने ।
कामधेनुसुता कामदोग्ध्रीदं तद्विचेष्टितम् ॥२७॥

अर्थ—मंत्री ने उत्तर दिया कि महाराज, मुनि के घर में कामधेनु की कन्या है, मन चाहे अर्थ को देने वाली है, उसीका यह प्रभाव है ॥

मन्त्री श्रुत्वैव माज्ञप्तो गवार्थं मुनिमेत्य च ।
राजयोग्यमिदं रत्नं मुनेस्तेऽनेन किं वद ॥२८॥

अर्थ—ऐसा सुन के राजा ने मंत्री को आज्ञा दी कि गौ के लिये मुनि के पास आकर कहो कि यह रत्न राजा के योग्य है तुम मुनि हो तुमको इससे क्या काम है ॥

मन्त्री मुनिं समुपगम्य तथा ययाचे
न स्वीकृतं तदृषिणेति बलान्नृपाग्र्यः ।

गावं मुहुर्निनदनैकपरां सवत्सां
हृत्वाभ्ययान्निजपुरं कलुषीकृतात्मा ॥२९॥

अर्थ—मंत्री ने मुनि के पास आकर आज्ञानुसार गाय को मांगा पर ऋषि ने स्वीकार नहीं किया। तब राजा बलात्कार (ज़बरदस्ती से) बार २ चिल्लाती हुई बच्चे सहित गाय को हरण करके अपने को पापी बना के अपने नगर में गया।

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां द्वितीयः सर्गः ॥२॥



श्रीवाल्मीकिरुवाच—

गोहर्तरि प्रतिगते तु सहस्रबाहौ
गेहागतः परशुराम उदन्तमावेत्‌।
संरब्धरक्तनयनः शरचापपर्शु
धृग्वर्मितो हरिरिभेन्द्रमिवाभ्यधावत्‌ ॥१॥

अर्थ—श्रीवाल्मीकि जी श्रीरामचन्द्र जी से कहते हैं कि जब वह सहस्रबाहु गौ हरण करके चला गया तब परशुरामजी ने घर आकर यह समाचार सुना और उनकी आंखें क्रोध के मारे लाल २ होगईं, धनुष बाण, फरसा धारण करके, कवच पहिन के जैसे सिंह हाथी पर झपटे वैसे झपटे॥

माहिष्मतीं नाप सहस्रबाहुः
सैन्येन तावज्जमदग्निसूनुः ।
कालोपमो मस्तकमारुरुक्षन्
तत्पृष्ठगामीव लघु प्रयातः ॥२॥

अर्थ—जबतक सेना के साथ सहस्रार्जुन अपनी माहिष्मती नगरी में नहीं पहुंचा था तब तक ही परशुरामजी, सिर पर चढ़ने को चाहते हुए काल के समान, जैसे पहिले से उसके पीछे ही जाते हों, ऐसा शीघ्रही वहां पहुंच गए ॥

परशुरामविजयाय संयुगे-
ऽक्षौहिणीर्दश च सप्त भूपतिः ।
प्रासशक्तिपरिघासितोमरे-
ष्वादिसज्जवपुषो न्ययूयुजत् ॥३॥

अर्थ—संग्राम में परशुरामजी को जीतने के लिये राजा ने प्रास (भाला), शक्ति (बरछी), परिघ (लोहदण्ड), असि (तरवार), तोमर (गँड़ासा), इषु (बाण) आदि से सजी हुई १७ अक्षौहिणी सेना भेजी ॥

सैन्यं विलोक्य चागतमग्रेऽग्निस्तूलराशिमिव ।
संहृत्य क्षणमात्रात् परशुधरोऽनाकुलस्तस्थौ ॥४॥

अर्थ—आगे आई हुई सेना को देख कर क्षणमात्र में रूई को अग्नि की नाई संहार करके परशुरामजी बिना घबराहट के स्वस्थ खड़े रहे ॥

संहृतं तु मुनिना निशम्य तत्
स्वं बलं नरपतिस्तु शक्तिमान् ।
आत्तशस्त्रनिवहो रुषाह्वयन्
संयुगे मुनिमनाकुलोऽभ्ययात् ॥५॥

अर्थ—परशुराम जी ने संपूर्ण सेना का सँहार किया ऐसा सुन के, शक्तिमान् (पराक्रमी अथवा प्रभाव उत्साह विचार इन तीनो शक्ति वाला) राजा शस्त्रों का समूह धारण करके क्रोध से संग्राम में मुनि को ललकारता हुआ निर्भय होकर जाता भया॥

तपसः पुरतो बलं नु किं
नृपतेः पर्शुभृता धनुष्मतः ।
सभुजं समकर्ति मस्तकं
परलोकं नृपतिः समाश्रयत् ॥६॥

अर्थ—परन्तु तप के आगे बल क्या। परशुराम जी ने धनुषधारी राजा के हज़ारों भुजाएं और सिर काट दिया। राजा भी परलोक को प्राप्त हुआ॥

भृगुकुलभूषण एवं स्वां धेनुं स्वाश्रमं निन्ये ।
पित्रे न्यवेदयदपि प्रधनं नृपतेर्वधं धेनुम् ॥७॥

अर्थ—तब भृगुकुलभूषण परशुराम जी अपनी गौ को अपने आश्रम में लेगए। और पिता जमदग्नि के पास संग्राम और राजा के वध का समाचार कहा और गौ को सौंप दिया॥

जमदग्निस्तु तच्छ्रुत्वा धीमान् सुतमशिक्षयत् ।
राजानं निघ्नता वत्स किं त्वया दुष्कृतं कृतम् ॥८॥

अर्थ—यह सुन कर बुद्धिमान जमदग्नि ऋषि ने पुत्र को शिक्षा दी कि हे बेटा राजा को मार कर तूने यह क्या पाप किया ॥ ।

राजा देवो मनुष्येषु तन्नाशान्नाशितं जगत् ।
विप्रैर्भाव्यं क्षमाशीलैः क्षमया पूज्यते जनः ॥९॥
गुणोऽसाधारणः सोऽयं ब्रह्मा लोकगुरुर्यतः ।
परमं पदमापासौ क्षमयार्कः प्रकाशते ॥१०॥
विष्णुः प्रसीदेत् क्षमया प्रसन्नं क्षमया जगत् ।
तया ना ब्रह्ममूर्तिः स्यात् तस्मात् श्रेष्ठतमा क्षमा ॥११

अर्थ—राजा मनुष्यों में देवता है उसको मारने से तूने सब जगत को नष्ट किया। ब्राह्मणों को क्षमाशील होना चाहिये। क्षमाही से लोक पूजा को प्राप्त होते हैं। यह गुण साधारण नहीं है। इसीसे ब्रह्मा जी लोक गुरु होके परमपद को प्राप्त हुए। क्षमा से सूर्य्य प्रकाशमान है। क्षमा से विष्णु भगवान् प्रसन्न होते हैं। क्षमा से जगत् प्रसन्न है। क्षमा से मनुष्य ब्रह्म मूर्ति होजाता है। इसलिये क्षमा सब से श्रेष्ठ है॥

क्रोधो मूलं हि पापस्य तपस्तेन विनश्यति ।
ब्रह्महत्याधिका हत्या वधोऽयं चक्रवर्तिनः ॥१२॥

अर्थ—क्रोध पाप की जड़ है। क्रोध करने से तप नष्ट

होता है। हे पुत्र चक्रवर्ती राजा का वध बड़ी हत्या है जो ब्रह्म हत्या से भी अधिक है॥

तच्छमाय जप वेदमातरं
गच्छ तात पठ वेदमादितः।
निर्जने वस वने शमो रुषः
स्यात् ततस्त्वमनघो भविष्यसि ॥१३॥

अर्थ—हे पुत्र उस हत्या के मिटाने के लिये गायत्री जप करो। आरम्भ से सब वेद पढ़ो। जाओ एकान्त वन में वास करो। इससे क्रोध की शान्ति होगी और तुम पापरहित हो जाओगे॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां द्वितीयः सर्गः ।२॥



वाल्मीकिरुवाच—

परशुरामः पितुर्वाक्याद्गायत्रीं वेदमासमम्।
अभ्यस्यागत्य पितरं प्रणम्यालभताशिषः॥१॥

अर्थ—परशुराम जी ने पिता की आज्ञा के अनुसार गायत्री और वेद् का एक वर्ष तक अभ्यास (जप और पाठ) किया और फिर आकर पिता को प्रणाम करके आशिर्वाद पाया॥

एकदा रेणुका स्नातुं जलं चाहर्तुमभ्ययात् ।
गङ्गां ददर्श तत्रैव क्रीडन्तं चाप्सरोगणैः ॥२॥
सा पद्ममणिगन्धर्वं मदनाकृष्टचेतसा ।
पश्यन्ती कौतुकं तं तु कंचित्कालं स्थिताभवत् ॥३॥

अर्थ—एक समय परशुराम जी की माता रेणुका स्नान करने और जल लाने के लिये गङ्गाजी गईं। वहां ही अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करते हुए पद्ममणि नाम के गंधर्व को देखा। उस कौतुक को देखती हुई कामदेव के वश हो कुछ काल तक वहां खड़ी रहीं॥

तत्रातिसमयेऽतीते मुनेः शापभयात् सती ।
जलमाहृत्य सपदि कम्पन्ती मुनिमभ्ययात् ॥४॥

अर्थ—वहां बहुत देर होजाने पर मुनि जी कहीं शाप न देदेवें इस भय से जल लेकर कांपती हुई तत्काल मुनि जी के पास लौट आईं॥

तन्मनोवैकृतं ज्ञात्वा मुनिः पुत्रानजिज्ञपत् ।
निजमातुः शिरश्छिन्त तैर्नाकारि पितुर्वचः ॥५॥

अर्थ—ऋषि ने अपनी स्त्री रेणुका के मन के विकार को जान कर पुत्रों को आज्ञा दी कि अपनी माता का सिर काट लो, परन्तु पुत्रों ने पिता का वचन नहीं माना॥

क्रोधात् सस्मार स मुनिः पर्शुरामं स चागमत् ।
किं करोमीति तेनोक्ते जमदग्नि रुवाच तम् ॥६॥

अर्थ—तब ऋषि ने क्रोध करके परशुराम जी का स्मरण किया और वे आये। उन्होंने पिता से कहा कि क्या आज्ञा है। तब जमदग्नि ने उनसे कहा ॥

निज मातुः शिरश्छिन्धि भ्रातृणां चाविलम्बितम्।
अयुक्तमिदमत्यन्तमिति सोऽपि व्यचिन्तयत् ॥७॥
तथाप्यस्ति पितुः शक्तिस्तेषां प्रोज्जीवने पुनः।
इत्थं विचार्य सुधिया क्षणादवजघान तान् ॥८॥

अर्थ—अपने माता और भाइयों का सिर शीघ्रही काट लो। परशुरामजी ने सोचा कि माता और भाइयों का मारना बहुतही अयोग्य है। तथापि पिताजी को फिर उनके जिलाने का सामर्थ्य है। ऐसा सद्बुद्धि से विचार करके एक क्षण में सभों को मार डाला ॥

तुष्टः पिता तमभ्याह वरं वरय सुव्रत।
जीवन्तु भ्रातरो माता स नत्वेत्थमयाचत ॥९॥
जानन्तु ते स्वहन्तारं नच मां कर्हिचित् पुनः।
तथेत्युक्त्वाथ मुनिना तुष्टेनोज्जीविताश्च ते ॥१०॥

अर्थ—तब पिता जमदग्नि ने संतुष्ट हो करके पुत्र परशुरामजी से कहा कि हे पुत्र तू वर मांग, परशुरामजी ने प्रणाम करके यह वर मांगा कि मेरे भाई और मां जी जायें और वे अपना मारनेवाला मुझे कभी न समझें। मुनिजी ने प्रसन्न होकर 'तथास्तु' (ऐसाही हो) कह कर उनको जिला दिया ॥

वाल्मीकिरुवाच--

परशुधरस्य भयात् ते सहस्रबाहोः सुताः शरणम्।
न क्वापि लेभिरे नृपमानित्वात् सेहिरे न पितृघातम्॥११॥

अर्थ--वाल्मीकि ऋषि श्रीरामचन्द्रजी से कहते हैं कि परशुरामजी के भय से सहस्त्रार्जुन के पुत्र कहीं शरण न पाये और राजपन के घमण्ड से पिता का मारा जाना भी सह न सके

क्षत्रियाणामयं धर्मो वैरनिर्यातनं पितुः।
यथाबलं कथमपि कार्यमित्यविचारयन् ॥१२॥

अर्थ--और उन्होंने विचार किया कि यह क्षत्रियों का धर्म है कि पिता के वैर का पलटा, किसी प्रकार से अपने सामर्थ्य के अनुसार लेना चाहिये॥

विचार्यैवं मिथस्ते तु निर्गते भ्रातृभिर्गृहात्।
पर्शुरामे ययुस्तत्र ध्यानमीलितलोचनम् ॥१३॥
जमदग्निं न्यवधिषुर्भृशं रेणुकयार्थितम्।
विनयाज्जीवनं पत्युर्न शुश्रुवुरनादरात् ॥१४॥

अर्थ--वेलोग आपस में ऐसा विचार करके भाइयों के साथ परशुरामजी के घर पर आये जब वह घर से बाहर गए थे, उन्होंने ध्यान में आँखें मीचे हुए जमदग्नि ऋषि को अकेला पा कर मार डाला, उनकी स्त्री रेणुका जी ने नम्रता के साथ पति के जीवन दान की भिक्षा बहुत चाही परन्तु उन दुष्टों ने अनादर से कुछ नहीं सुना॥

केशग्राहं गृहीत्वा ते समकृन्तन् शिरोऽसिना ।
रेणुका विललापोच्चैरुरस्ताडनपूर्वकम् ॥१५॥

अर्थ—उन्होने मुनि के केश पकड़ के तरवार से उनका सिर काट लिया, और रेणु का छाती पीट कर ज़ोर से चिल्ला कर विलाप करने लगी ॥

हा राम राम हा तात क्वासि धावा विलम्बितम् ।
दुर्दण्ड्यनृपदोर्दण्डात् पितरं पाहि कातरम् ॥१६॥

अर्थ—हा ! राम हा ! राम हा ! राम तात तू कहां है शीघ्र दौड़ । दुर्दण्ड क्षत्रियों के भुजदण्ड से भयभीत अपने पिता की रक्षा कर ॥

परशुरामोऽपि रुदितं मातुः शुश्राव दूरतः ।
आगत्याश्रममद्राक्षीत् पितरं पञ्चतां गतम् ॥१७॥

अर्थ—परशुरामजी ने माता का रोना दूर से सुना और आश्रम में आकर देखा कि पिता का परलोक वास हुआ ॥

विलप्य बहुशोऽजस्रमब्रवीद्भ्रातृभिः सह ।
नोक्त्वा किंचिन्नोपदिश्य स्वर्गं याताः कथं पितः ॥१८॥

अर्थ—भाइयो के साथ बहुत समय तक बहुतसा विलाप करके कहने लगे कि हे पिता ! आप हमलोगों से न कुछ कह गए और न कुछ ज्ञानोपदेश किया, आप स्वर्ग में कैसे चले गए।

अथ मातरमभ्येत्य दीनामाश्वासयच्छनैः ।
मा शुचो हन्ति कं कोऽस्य जीवः किं म्रियतेऽमरः ॥१९॥

नोचेत् को म्रियते ब्रूहि यथा जीर्णमिहांशुकम् ।
हित्वा नूतन माधत्ते तथान्यद्देहधारणम् ॥२०॥

अर्थ—इस पीछे माता के सामने जाकर दीन माता को धीरे २ समझाने लगे कि हे माता ! तुम शोक मत करो। कौन किसको मारता है। जीव जो अमर है सो क्या मरता है ? नहीं तो कहो कौन मरता है ? जैसे यहां पुराने कपड़े छोड़ नया कपड़ा लोग पहिनते हैं वैसेही यह जीव एक को छोड़ दूसरे शरीर को धारण करता है ॥

तथैव मानुषं देहं त्यक्त्वा दिव्यशरीरिणः ।
स्वर्गे लोके विराजन्ते पितरो मे तपोधनाः॥२१॥

अर्थ—वैसेही मनुष्य शरीर को छोड़ कर दिव्य शरीर धारण कर तपोधन, मेरे पिता स्वर्ग लोक में विराजमान हैं ॥

शोकं जहीहि भगवत्प्रवणैव भूत्वा
ज्ञाने यतस्व परिक्षितएव पत्युः ।
त्वं चापि मुक्तिपदमाप्स्यसएव धीरा
पत्युः पथेतिच वदन् विरराम रामः॥२२॥

अर्थ—हे माता ! भगवान् के ओर झुक के शोक छोड़ो। अपने पति से सीखे हुए ज्ञान में ही यत्न करो। तुम भी बुद्धिमान हो, पति के मार्ग से मोक्षपद को पावोगी। ऐसा कह के परशुरामजी चुप हुए ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजर्षयरामसेवकलालसुमकृत भाषाटीकायां चतुर्थः सर्गः ॥४॥

वाल्मीकिरुवाच ।

रामो मातरमाश्वास्य क्रोधात् कालाग्नितुल्यभाः
कम्पमानो जनन्यग्रे प्रतिज्ञामकरोदिति ॥१॥

अर्थ—श्री वाल्मीकि ऋषि रामचन्द्रजी से कहते हैं कि परशुरामजी माता को समझा के क्रोध से कालाग्नि के समान धमकते हुए कांपने लगे और उन्होंने माता के आगे ऐसी प्रतिज्ञा की ॥

जगति क्षत्रियकुलं संहरिष्ये पितुः कृते ।
एवं प्रतिज्ञाय पुरीं स च माहिष्मतीं ययौ॥२॥

अर्थ—पिता के कारण जगत् के सब क्षत्रियों का संहार करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करके वे माहिष्मती पुरी में गए ॥

गत्वार्जुनसुतान् हत्वा तत्रत्यान् क्षत्रियानपि ।
निघ्नन् क्षत्रियवृन्दानि समभ्राम्यदितस्ततः ॥३॥

अर्थ—वे वहां जाकर सहस्रार्जुन के पुत्रों को मार कर और वहां के क्षत्रियों को भी मार कर फिर क्षत्रियों के झुंडों को मारते हुए इधर उधर घूमने लगे ॥

क्षत्रियाः पर्शुरामस्य भयाद्याता दिशो दश ।
स्वंस्वं देशं परित्यज्य केचित् पञ्चालमाश्रिताः॥४॥
केचिद्याता मरुस्थल्यां सिन्धुतीरं परे गताः ।
महेन्द्राद्रिं रमणकद्वीपं चानुगताः परे॥५ ॥

अर्थ—क्षत्रिय लोग परशुरामजी के भय से दशों दिशा-

ओं में भागे, अपने २ देश को छोड़ कर कोई पंचाल देश में, कोई मरुस्थल में, कोई समुद्र के किनारे, कोई महेन्द्राचल पर, और कोई रमणकद्वीप में जा रहे ॥

पर्शुभृच्च नृपान् निघ्नन् पञ्चालविषयं गतः ।
तं दृष्ट्वाभयसंत्रस्तास्तत्रत्याः क्षत्रिया भृशम् ॥६॥
स्वंस्वं धर्मं परित्यज्य कातराः स्मेतिवादिनः ।
परित्यज्याहवं याताः प्राणान् रक्षेतिचाब्रुवन् ॥७॥

अर्थ—परशुराम जी भी राजाओं को मारते हुए पञ्चाल* देश में गए, उनको देखकर वहां के क्षत्रिय, भय से अत्यन्त घबड़ा कर अपने २ धर्म को छोड़ कर कहने लगे कि महाराज हमलोग कातर हैं। संग्राम छोड़ कर चले आते हैं, हमारे प्राणों की आप रक्षा करें ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा पर्शुरामो विहस्य च ।
कातरा एव भवत क्षत्रसंबन्धवर्जिताः ॥८॥
इत्युक्त्वा दक्षिणामाशां प्रतस्थे नावधीच्च तान् ।
पाञ्चालाः क्षत्रिया एवं तदा प्रभृति कातराः ॥९॥

अर्थ—ऐसा उनका वचन सुन कर परशुरामजी हंस कर कहने लगे कि तुम लोग कायर ही रहोगे, और क्षत्रियों से तुम्हारा संबन्ध नहीं होगा। ऐसा कहकर, (पर्शुराम जी ने)

---

* पञ्चाल देश—पञ्जाब। उसी समय से पञ्चाल देश के सब क्षत्रिय कातर होगए जिसका दृष्टान्त अब पाते हैं ।

उनको न मारा और दक्षिण दिशा की यात्रा की। इस प्रकार तभी से पञ्चाल देश के क्षत्रिय कायर होगए ॥

अथ दक्षिणतो भूत्वा विन्ध्यमुल्लङ्घ्य सत्वरम् ।
ययौ रमणकद्वीपं तत्रत्याः क्षत्रिया अपि ॥१०॥
सूर्यवंश्या भयोद्विग्नास्तं दृष्ट्वाभ्यवदन् मिथः ।
समायातोऽयमधुना जीवनं नः कथं भवेत् ॥११॥
समेत्य निश्चितं सर्वैर्जीवनं वैश्यधर्मतः ।
इत्यापणेषु राजन्यास्ते चक्रुः क्रयविक्रयम् ॥१२॥

अर्थ—इस उपरान्त परशुरामजी दक्षिण के ओर होकर शीघ्रही विन्ध्याचल पर्वत को लांघकर रमणकद्वीप में पहुंचे। यहां के क्षत्रिय सूर्यवंशी थे, वे परशुरामजी को देखकर, भय-भीत होकर, आपस में सोचने लगे कि परशुरामजी यहां भी आये और अब अपने लोगों का जीवन कैसे होगा। फिर सभों ने मिलकर यही निश्चय किया कि वैश्य धर्म में रहने से जीवन रहेगा। ऐसा सोच कर सब क्षत्रिय लोग बाज़ार लगा कर कुछ खरीदने और कुछ बेचने लग गए ॥

केचिद्वैश्यवदुष्णीपधृपः केचित् तुलाधराः ।
केचिल्लिखन्तः केचिच्च द्रव्यसंख्यानमाचरन् ॥१३॥
वैश्यधर्मरता एवं ददृशुः पुरतो मुनिम् ।
वयं वैश्या वयं वैश्या इति रुष्टं व्यजिज्ञपुः ॥१४॥
अस्त्वस्मासु कृपत्येवं वदन्तो ददृशुः पुरः ।
मुनेरक्षरवन्नेत्रे ते भीताः प्राद्रवन्न दिशः ॥१५॥

अर्थ—कोई बनियों के ऐसी पगड़ी पहिने हुए, कोई तराज़ू पकड़े हुए, कोई लिखते हुए, कोई हिसाब करते हुए वा द्रव्य गिनते हुए, बैठ गए। इस प्रकार वैश्य धर्म में लगे हुए, उन क्षत्रियों ने परशुराम जी को सामने देखा और उन्हें क्रोधित देखकर बोले कि 'हम वैश्य हैं' हम वैश्य हैं, ऐसी प्रार्थना करने लगे। हमारे ऊपर कृपा रहे ऐसा कहते हुए वे सामने देखते हैं कि परशुराम जी की आंखें अंगारे की सी लाल लाल हो रही हैं तब डर के मारे चारों ओर भागने लगे॥

परशुरामोऽपि तद् दृष्ट्वा कपटं बुबुधेऽखिलम्।
तानुवाचाथ धूर्ताः स्थ राजन्याः सूर्यवंशजाः ॥१६॥
स्वीकृत्य वैश्यतां क्षत्राद्धर्माज्जाता वहिः स्वयम्।
भयाच्छस्त्राणि संत्यज्य संजाता वैश्यमानिनः॥१७॥
अस्तु वो न हनिष्यामि शपामि श्रूयतामिदम्।
वैश्या भवत राजत्वं न कदाचिदवाप्स्यथ ॥१८॥
वैश्या रवणहाराश्च वैश्यवर्गेषु चोत्तमाः।
इमं देशं परित्यज्य मगधान् यात मा चिरम्॥१९॥

अर्थ—परशुराम जी भी उनको भागते हुए देख कर उन का संपूर्ण कपट जान गए और उनसे कहा कि तुम लोग धूर्त हो सूर्यवंशी क्षत्रिय होकर, वैश्य धर्म को स्वीकार करके क्षत्रिय धर्म से आप ही आप बाहर हुए और भय के मारे शस्त्रों को छोड़, अपने को वैश्य मानने लग गए। अस्तु अब तुम को नहीं मारूंगा परन्तु यह शाप देता हूं, सो सुनो, अब तुम लोग वैश्य

होजाओ और क्षत्रिय धर्म को कभी न प्राप्त हो। रवणहार नाम के वैश्य होकर, वैश्यों में उत्तम कहलाओ। अब इस देश को छोड़ कर मगध देश में चले जाओ, देर मत करो॥

व्युष्य तत्रोपवीतादिसंस्कारान् कुरुतानिशम्।
काले जपत सावित्रीं तथा वो न त्यजेद्रमा ॥२०॥
धनिनः सुखिनः स्यात संस्काराँस्त्यजतां पुनः।
सन्ध्याकर्मविहीनानां दारिद्र्यं वो भविष्यति ॥२१॥
मिथ उद्वाहकर्माणि कुर्वन्तः स्यास्यथाज्ञता।
एवमुक्त्वा तु वचनं पर्शुरामोऽन्यतोऽगमत् ॥२२॥

अर्थ—मगध देश में रह के यज्ञोपवीत आदि संस्कार सर्वदा करते रहना। समय पर गायत्री का जप करना, ऐसा करने से तुम लोगों को लक्ष्मीजी कभी न छोड़ेंगी तुम लोग धनवान् और सुखी बने रहोगे। और संस्कार कर्म तथा संध्या वन्दन करना छोड़ दोगे तो तुम लोग दरिद्र होजाओगे। तुम लोग विवाह कर्म आपस में करके सुख से रहोगे। ऐसा कहके परशुराम जी और स्थान को चले गए॥

वैश्यभावं समासाद्य ततस्ते क्षत्रिया भुवि।
न्यवात्सुर्मगधं देशं मुनिना निर्भयाःकृताः ॥२३॥

अर्थ—इसके पश्चात् ये सूर्य्य वंशी क्षत्रिय वैश्यभाव को प्राप्त होकर मगध देश में जाकर बसे क्योंकि परशुराम जी ने इन को निर्भय कर दिया था॥

श्रीमान् गोलकवंशजो नरपतिः खट्वाङ्गनामा जनात्
श्रुत्वेत्थं नृपपाङ्क्तितो नरपतींस्तान् वैश्यभावं गतान् ।
शापादेव बहिश्चकार रुरुधे संबन्धमेषां नृपे-
ष्वेवं ते रविवंशजा नृपतयो वैश्या बभूवुर्भुवि ॥२४॥

अर्थ—इस वृतान्त को गोलक वंश के राजा खट्वाङ्ग ने लोगों से सुन कर उन रमणकद्वीपवाले, वैश्यभावको प्राप्त हुए राजाओं को, परशुरामजी के शापही के कारण से क्षत्रिय पंक्ति से बाहर कर दिया, और क्षत्रियों में उनका संबन्ध होना रोक दिया। इस प्रकार से वे सूर्य्य वंशी राजा भूमि पर वैश्य बन गए॥

विख्यातास्तत एव ते रवणहाराख्या विशो विष्टपे
श्रेष्ठाः सर्वविशां कुलेषु च वणिग्वृत्त्याऽत्यगुर्जीवनम्।
दानेनाध्ययनेन यज्ञकरणैः पश्वादिसंरक्षणैः
कृष्या वार्धुषिकर्मणा परशुभृच्छापाद्ययुर्वैश्यताम्।२५

अर्थ—तभी से वे सूर्य्य वंशी राजा लोग रवणहार बणिक नाम से जगत में प्रसिद्ध हुए, फिर सम्पूर्ण वैश्यों के कुल में श्रेष्ठ कहलाये, दान देना, वेद पढ़ना, यज्ञ करना पशु आदि की रक्षा करना, खेती करना, व्याज लेना इत्यादिक वैश्य की वृत्ति से जीवन विता कर परशुराम जी के शाप से, वैश्यपन को प्राप्त हुए॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां पञ्चमः सर्गः ॥५॥

वाल्मीकिरुवाच ।

श्रीराम केऽपि मुनयः कथामूचुः पुरातनीम् ।
भलन्दनो ब्रह्मपुत्रो भार्या तस्य मरुत्वती ॥१॥

अर्थ—श्रीवाल्मीकि ऋषि रामचन्द्र जी से कहते हैं कि हे रामचन्द्र कोई मुनि लोक ऐसी प्राचीन कथा कहते हैं। ब्रह्मा जी का पुत्र भलन्दन और उसकी स्त्री मरुत्वती हुई॥

तयोर्यशो जगद्व्याप्तमासीत् पञ्चम एनयोः ।
पुत्रः प्रमर्दनो नाम धर्मात्मा सत्यवाग् दृढम् ॥२॥
यजुर्वेदस्य वेत्तायं ब्रह्मविज्ञ ज्ञानिनां वरः ।
अस्य भार्याचन्द्रसेना साक्षाच्चन्द्रमसः सुता ॥३॥
सौन्दर्ये रम्भया तुल्या सुशीला च प्रियंवदा ।
स्त्रीधर्मनिपुणा सोमो बुद्ध्वैवमुदवाहयत् ॥४॥
पतिसेवा परापीयं चिरं नावाप सन्ततिम् ।
प्रणता प्रार्थयामास स्वपतिं पुत्रकाम्यया॥५॥

अर्थ—दोनो का यश जगत् में छा रहा है। इनका पांचवां पुत्र प्रमर्दन हुआ। यह बड़ा धर्मात्मा और सत्य बोलने में दृढ़ था। यह यजुर्वेद का जानने वाला, ब्रह्मवेत्ता और ज्ञानियों में श्रेष्ठ था। इसके स्त्री का नाम चन्द्रसेना था जो साक्षात् चन्द्रमा की पुत्री थी। यह सुन्दरता में रम्भा अप्सरा के समान थी, सुशील और प्रिय बोलने वाली थी। स्त्रियों के धर्म जानने में निपुण थी ऐसा चन्द्रमा ने विचार करके ही प्रमर्दन के साथ

इसका विवाह कर दिया। यह अपने पति की सेवा में तत्पर रहती थी तो भी बहुत समय तक इसको सन्तान नहीं हुआ तब उस चन्द्रसेना ने पुत्र की इच्छा से नम्र हो के पति से प्रार्थना की॥

अथ प्रमर्दनः प्राह प्रिये पुत्रेण किं फलम्।
सन्तत्या दुःखमेवाप्यं न सुखं प्राप्यते क्वचित् ॥६॥

अर्थ—इस उपरान्त प्रमर्दन ने अपने स्त्री से कहा कि हे प्यारी पुत्र होने से क्या फल है सन्तति होने से दुःख ही प्राप्त होता है सुख कहीं नहीं मिलता॥

तस्मादावां बदरिकाश्रमं यावस्तपोऽर्थिनौ।
प्रणवस्मरणं तत्र कुर्वन्तौ सततं हृदि॥७॥
इदं शरीरमुत्सृज्य मुक्तो स्याव च संसृतेः।
इत्थं पतिवचः श्रुत्वा चन्द्रसेनाब्रवीत् पुनः॥८॥

अर्थ—तस्मात् अपने दोनों तपस्या करने के लिये बदरिकाश्रम में चलें वहां चल के सर्वदा हृदय में प्रणव का स्मरण करते हुए इस शरीर को छोड़ के संसार से मुक्त होजायें। ऐसा पति का वचन सुन के चन्द्रसेना फिर कहने लगी॥

स्वामिंस्तत्रैव यास्यावः स्मरावः प्रणवं परम्।
परं भवतु मे पुत्रो धर्मात्मा क्रोधवर्जितः॥९॥

अर्थ—हे स्वामी! बदरिकाश्रम ही में चलें और प्रणव का स्मरण करें परन्तु मुझे धर्मात्मा और क्रोध रहित पुत्र होना चाहिये।

वीक्ष्य पत्न्या हठं पूर्णं सोऽपि राजा प्रमर्दनः ।
तपश्चचार परमं स्त्रिया वदरिकाश्रमे ॥१०॥
महान् कालो व्यतीयाय प्रणवं स्मरतोस्तयोः ।
ब्रह्मा विष्णुः शिवः प्रादुर्भूत्वा प्रोचुः पुरस्तदा॥११॥
प्रमर्दन प्रसन्नाः स्मः सपत्नीकस्य ते वयम् ।
तपस्यतो वरं ब्रूतां दास्यामस्तमसंशयम् ॥१२॥

अर्थ—वह प्रमर्दन राजा अपने स्त्री का पूर्ण हठ देख के उसके साथ बदरिकाश्रम में जाके परम तपस्या करने लगा। उन दोनों को प्रणव का स्मरण करते हुए बहुत काल बीत गया तब ब्रह्मा विष्णु और शिव सामने प्रगट हो के बोले कि हे प्रमर्दन! तेरे सपत्नीक की तपस्या से हमलोग प्रसन्न हैं, तुम वर मांगो, निःसन्देह हम उसको देंगे॥

अथ प्रमर्दनः प्राह प्रसन्ना यदि मेऽनघाः ।
भवन्तस्तर्हि धर्मात्मा सुशीलस्तनयोस्तु मे ॥१३॥
शिवादयस्तदा प्रोचू राजन् देवास्त्रयो वयम् ।
एकमेकं सुतं दद्मस्त्वं त्रिपुत्रो भवाधुना ॥१४॥
कुण्डं कृत्वा विधानेन त्वं वेदत्रयमन्त्रतः ।
हव्यैर्द्रव्यैर्जुहुधि ते त्रयः पुत्राभवन्त्विति ॥१५॥

अर्थ—प्रमर्दन बोला कि हे पुण्यरूप देवताओं! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे धर्मात्मा और सुशील पुत्र हो। तब शिव आदि देवता बोले कि हे राजा! हम तीन देवता हैं,

एक एक पुत्र तुमको देते हैं अब तुम तीन पुत्र वाले होजाओ तुम विधान से कुण्ड बनाओ उसमें होमद्रव्य लाकर तीनों वेद के मन्त्र से होम करो जिससे तुमको तीन पुत्र हों ॥

ततः प्रसन्नमनसा श्रीमान् राजा प्रमर्दनः ।
कुण्डं विधाय विधिवद्यजुर्मन्त्रैरथाजुहोत् ॥१६॥
तदाग्निकुण्डान्निष्क्रम्य सबालो भगवान् शिवः ।
बालं प्रमर्दनायादात् सोऽग्रहीद्धर्षपूरितः ॥१७॥

अर्थ—इस पीछे राजा प्रमर्दन ने प्रसन्न होके विधि पूर्वक कुण्ड बना के यजुर्वेद के मंत्र से होम किया तब अग्नि कुण्ड से श्रीभगवान् शिव जी बालक लेकर निकले और उन्होंने वह बालक प्रमर्दन को दिया राजा ने भी हर्ष पूर्वक उसको ले लिया।

ऋङ्मन्त्रहोमतश्चाग्नेर्ब्रह्मा निष्क्रम्य बालकम् ।
प्रायच्छच्चन्द्रसेना तं जगृहे हर्षपूरिता ॥१८॥

अर्थ—जब ऋग्वेद के मन्त्र से राजा ने होम किया तब अग्निकुण्ड में से ब्रह्माजी ने निकल कर बालक दिया उस बालक को प्रसन्न होके चन्द्रसेना ने लेलिया ॥

अथ राजा साममन्त्रै रारेभे हवनं पुनः ।
तदा रजस्वला चन्द्रसेनासीदथ केशवः ॥१९॥
वन्हिकुण्डाद्विनिष्क्रान्तः कुरूपशिशुना सह ।
अथ राजाह भगवन्कुरूपो बालकः कथम् ॥२०॥
विष्णुराहाथ पत्नी ते पुष्पिणीति कुरूपकः ।

लोभी विश्वासघाती च भाविनायं न संशयः ॥२१॥
तदा राज्ञा च राज्ञ्या च प्रार्थितो भगवान् हरिः ।
नायं पुत्रो रोचते नौ कस्मै चिदेहि ते नमः॥२२॥

अर्थ—फिर राजा ने सामदेव के मन्त्र से होम करने का आरम्भ किया उस समय चन्द्रसेना रजस्वला थी। श्रीविष्णु-भगवान् एक कुरूप बालक को लिये हुए कुण्ड में से निकले। राजा ने कहा कि भगवान् यह बालक कुरूप क्यों है। श्रीविष्णु भगवान् ने कहा कि तुम्हारी स्त्री रजस्वला है इसलिये बालक कुरूप हुआ फिर यह बालक लोभी और विश्वासघाती भी होगा इसमें भी कुछ सन्देह नहीं है। तब राजा रानी दोनों ने विष्णुभगवान् से प्रार्थना की कि ऐसा पुत्र हमको अच्छा नहीं लगता आप और किसीको दे दीजिये आपको नमस्कार करते हैं॥

तत्राग्रसेन नामकः शूद्र आसीदुपस्थितः ।
स तं जग्राह तनयं सोऽग्रनामा भवत्ततः ॥२३॥

अर्थ—वहां एक शूद्र अग्रसेन नाम का उपस्थित था उसने उस बालक को लिया इस कारण से उस बालक का नाम अग्र हुआ॥

स बालको वणिग्वृत्या योगक्षेमं चकार ह ।
मरुभूमाववात्सीच्च ततो राजा प्रमर्दनः ॥२४॥
पुत्राभ्यां भार्यया चन्द्रसेनया स्वपुरं ययौ ।
अथो कतिपयाहोभिः पर्शुरामोमहायशाः ॥२५॥
चक्रे प्रतिज्ञां क्षत्रान्तकारिणीं कारणान्तरात् ।

अर्थ—वह बालक वैश्यवृत्ति से जीवन करने लगा और मारवाड़ में जाकर रहा। इस पीछे राजा प्रमर्दन दो पुत्र और स्त्री के साथ अपने नगर में आया। इस पीछे कितने ही दिन बीतने पर श्रीपरशुरामजी ने किसी कारण से क्षत्रियों का संहार करने की प्रतिज्ञा की॥

अथ सूर्यकुलोत्तंसः स च राजा प्रमर्दनः॥२६॥
भयाद्रमणकद्वीपे न्यवात्सीत् स्वकुलावृतः।
चन्द्रसेना स्वबालेन देशं पञ्चनदं ययौ॥२७॥
भयात् परशुरामस्य क्षत्रियाः खत्रिया इति।
तद्बालवंश्याः सर्वेऽपि बभुवुर्जीवनार्थिनः॥२८॥

अर्थ—इस पीछे वह सूर्यवंशी राजा प्रमर्दन परशुरामजी के भय से अपने कुटुम्ब के साथ रमणक द्वीप में आकर रहा। चन्द्रसेना अपने बालक के साथ परशुराम जी के भय से पंजाब देश में जाकर रही और वे बालक और उसके वंश वाले परशुरामजी से बचने की इच्छा से क्षत्रिय रहते खत्रिय कहलाये।

अथ च रमणकाख्यं द्वीपमेत्य न्यवात्सुः
परशु धरभयाद्ये क्षत्रियाः सूर्यवंश्याः।
भुवि च रवणहाराश्चेतिविख्यातिमापुः
खलु च रमणहारा रौनियाराश्च वैश्याः॥२९॥

अर्थ—जो सूर्यवंशी राजा परशुरामजी के भय से रमणक

द्वीप में आकर रहे वे भूमि पर, रवणहार, रमणहार, और रौनियार कहलाये और वैश्य हुए ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैश्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां षष्टः सर्गः ॥६॥



वाल्मीकिरुवाच ।

कुर्वन् राजन्यसंहारं पर्शुभृन्मिथिलां ययौ ।
प्रविष्टस्तत्र सामिति जनकस्य महात्मनः ॥१॥

अर्थ—परशुरामजी क्षत्रियों का संहार करते हुए मिथिला नगर में गए। वहां महात्मा जनक राजा की सभा में पहुंचे ॥

तत्र हाहेति कुर्वन्तः सर्वे सभ्याः समुत्थिताः ।
प्रणम्य दण्डवद् भूमौ पुरः प्रांजलयः स्थिताः॥२॥

अर्थ—वहां सब सभासद् लोग हाहाकार करते हुए उठ खड़े हुए और दण्डवत् प्रणाम कर हाथ जोड़, सामने खड़े हुए ॥

मिथस्ते प्रोचुरद्यास्य न राज्ञो जीवनं भवेत् ।
मुनिस्तु जनकं भूपं हनिष्यति न संशयः ॥३॥

अर्थ—वेलोग आपस में कहने लगे कि आज इस राजा का जीवन नहीं रह सकता। जनक राजा को परशुरामजी मारेंगे इसमें सन्देह नहीं ॥

क्षत्रियाणां वधार्थाय प्रतिज्ञामकरोद्यतः ।
सर्वैर्निश्चितमेवाद्य धर्मसूर्योऽस्तमेष्यति ॥४॥

अर्थ—क्योंकि क्षत्रियों के वध के निमित परशुरामजी ने प्रतिज्ञा की है सभों ने यही निश्चय किया है कि आज धर्म का सूर्य अस्त होजायगा ॥

जनकोऽपि प्रणम्योचे रुषं शमय भार्गव ।
मुनिराह प्रतिज्ञा मे कुर्यामक्षत्रियां महीम् ॥५॥
एकविंशतिकृत्वोऽहमकार्षं भूभृतां वधम् ।
त्वामद्येतत्पुरस्थाँश्च हत्वा मुच्ये पितॄणतः ॥६॥

अर्थ—जनक राजा ने भी उनको प्रणाम करके कहा। कि हे परशुरामजी आप क्रोध को शान्त कीजिये। परशुरामजी ने कहा कि हे राजा! मेरी प्रतिज्ञा है कि पृथ्वी को निःक्षत्रिय करूंगा। इक्कीस बार में क्षत्रियों का वध करचुका हूं आज तुमको और इस नगर के क्षत्रियों को मार कर पिता के ऋण से मुक्त होता हूं ॥

तच्छ्रुत्वा जनकोऽप्याह भज शान्तिं रुषं त्यज ।
क्रोधोऽघमूलं क्रोधेन नरा निरयगामिनः ॥७॥

अर्थ—यह सुन कर जनक राजा बोले कि क्रोध को छोड़ो शान्ति को भजो। क्रोध पाप का मूल है, क्रोध करने से मनुष्य नरक में जाता है ॥

सुकृतं नश्यति रुषा विप्रस्त्वं मुनिसन्ततिः ।
क्रोधहीनेन विप्रेण भाव्यं शान्तहृदा सदा॥८॥

अर्थ—क्रोध से सुकृत नष्ट होता है। तुम ब्राह्मण हो, ऋषियों के सन्तान हो, ब्राह्मण को क्रोध रहित और शान्त स्वभाव होना चाहिये॥

शृणु राम महाबुद्धे यत् सहस्रार्जुने हते।
प्रायश्चित्तेन पित्रा ते ब्रह्महत्यापनोदिता ॥९॥
गां परिक्रमता चीर्णं कर्म तत् पठता श्रुतीः।
यदाधुना त्वया भूपाः कियन्तः क्षत्रिया हताः ॥१०॥
तत्स्त्रियो विधवा भूत्वा यत्कुर्युर्वर्णसंकरम्।
न संशयोऽत्र तत्पापं त्वय्येवानुपते दिह ॥११॥

अर्थ—हे परशुराम जी आप बुद्धिमान हैं सुनिये। जो राजा सहस्रबाहु के मारने पर तुम्हारे पिताने तुमसे प्रायश्चित करवा कर तुम्हारी ब्रह्महत्या मिटाई। वह प्रायश्चित कर्म पृथ्वी की परिक्रमा और वेद पाठ करते तुमने किया था। कहो अब तुमने कितने महाराजा और कितने क्षत्रिय मारे। (अब तुमको कितना पाप हुआ होगा सो विचारलो)। और उनकी स्त्रियें विधवा होकर जो वर्ण सङ्कर पुत्र उत्पन्न करेंगी वह सब पाप तुम्हारे ही पर पड़ेगा इसमें कोई सन्देह नहीं॥

अथाब्रवीत् पर्शुरामो राजन् श्रोष्ये वचो न ते।
पितृणमुक्तये हन्यां त्वां प्रतिज्ञेदृशी मम ॥१२॥

अर्थ—इस उपरान्त परशुराम जी बोले कि हे राजन्! तुम्हारा वचन मैं नहीं सुनूंगा। पिता से उरिण होने के लिये तुम्हें मारूंगा ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है॥

अथाह जनको रामं मा हनिष्यसि किं भवान् ।
कस्त्वं कृतेन ते किं स्याज्जीवोनित्योऽस्ति हंसि कम्।।१३

अर्थ—इस पीछे जनकराजा परशुराम जी से कहने लगे कि तुम क्या मुझे मारोगे ? तुम कौन हो ? तुम्हारे किये क्या होगा ? तुम किसे मारते हो जीवतो नित्य (अमर) है ॥

श्रुत्वेत्थं जनकात् पर्शुरामो बुद्ध्वाब्रवीद्वचः ।
पितुः श्रुतं पुरा जीवन्मुक्तोऽस्ति जनकोनृपः।।१४।
त्रिकालज्ञोऽस्ति विज्ञानेऽर्हसमोऽस्ति महर्षिषु ।
पितुर्यद्यच्छ्रुतं राजँस्त्वयि प्रत्यक्षमेव तत् ।।१५।।

अर्थ—ऐसा वचन जनक राजा से सुनकर परशुराम जी ज्ञान पाकर बोले कि हे राजा पहिले पिता जी से सुना था कि आप जीवन्मुक्त हैं । भूत भविष्य वर्तमान तीनों कालों को जानने वाले हैं । ज्ञान में बड़े बड़े ऋषियों के बीच परम पूजनीय हैं । हे राजन् जो जो पिताजी से सुना था वह तुम में प्रत्यक्ष ही देखता हूं ॥

अशक्योऽयं मया जेतुं क्रोधस्त्वदुपदेशतः ।
सत्यज्ञानमयाच्छान्तिमेष्यत्युपादिशाद्य तत् ।।१६।।

अर्थ—इस क्रोध को जीत लेना यह मेरा सामर्थ्य नहीं है सत्य ज्ञानरूपी तुम्हारे उपदेश से शान्त हो जायगा सो आज मुझे उपदेश कीजिये ॥

एवं पर्शुवरेणोक्ते जनकस्त्वब्रवीदिदम् ।
मुने यो नहि शोकार्हः कुतस्तमनुशोचसि ।।१७।।

भाषसे त्वं विवेकीव मरिष्यन्ति मृताश्च ये।
सखायो बांधवा इष्टाः शोचन्ति सधियो न तान्॥१८॥

अर्थ—परशुरामजी ने ऐसा कहा तब राजा जनक बोले कि हे परशुराम जी। जो शोक करने योग्य नहीं उसका तुम शोक क्यों करते हो और विवेकियों की जैसी बातें करते हो। जो इष्ट मित्र बान्धव मरेंगे या मरगए बुद्धिमान् लोग उनका शोक नहीं करते॥

नैवमस्ति नृपा एते जातु सन्ति न सन्ति वा।
सर्वे वयं भविष्यामो नहि किं मरणोत्तरम्॥१९॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि ये राजा लोग कभी हैं और कभी नहीं हैं। क्या हम सब लोग मरने के उपरान्त उत्पन्न नहीं होंगे॥

बाल्ययौवनवार्धक्यास्तिस्रोऽवस्थास्तु देहिनाम्।
यथा क्रमाद्भवन्त्यङ्गे तथा देहान्तराप्तयः॥२०॥

अर्थ—बालत्व यौवन और वृद्धता ये तीनों अवस्था जैसे प्राणियों के देह में क्रम से होती हैं, वैसेही एक देह से दूसरे देहों की प्राप्ति होती हैं॥

अत एव तु धीमन्तो देहत्यागात् समाप्यते।
इत्यबुध्येव संमोहं नाप्नुवन्ति कदाचन॥२१॥

अर्थ—इसलिये बुद्धिमान् लोग देह छूटने से समाप्ति हो जाती है ऐसा न समझ कर मोह को नहीं प्राप्त होते॥

यदाचेन्द्रियवृत्तीनां संबन्धो विषयैर्भवेत् ।
शीतोष्णसुखदुःखानां प्रतीतिः प्राणिनां तदा ॥२२॥
विषयेन्द्रियसंबन्ध आगमापाय्ययं मतः ।
अनित्यश्चात एवैष सोढुं समुचितो नृणाम् ॥२३॥

अर्थ—जब इन्द्रियों की वृत्तियों का विषयों के साथ संबन्ध होता है तब प्राणियों को शीत, उष्ण, सुख, दुःख, इनकी प्रतीति होती है यह विषय और इन्द्रियों का संबन्ध जिस कारण से आगमापायी अर्थात् उत्पत्ति विनाशशील और अनित्य है। इसीलिये मनुष्यों को इसका सहन करना चाहिये ॥

विषयैस्तु न पीड्यन्ते यस्य चेन्द्रियवृत्तयः ।
सुखदुःखानुभवयोः समो धीरः स मुक्तिभाक् ॥२४॥

अर्थ—जिस पुरुष की इन्द्रिय की वृत्तियां विषयों से पीड़ा नहीं पातीं तथा जो सुख और दुःख के अनुभव में समान है वह धीर प्राणी मोक्ष पाने के योग्य है ॥

शीतोष्णाद्यसतां भावो नात्मन्यस्ति सदात्मनः ।
नाभावो निर्णयोऽस्यैक्षि यथार्थज्ञैर्विवेकिभिः ॥२५॥

अर्थ—शीत उष्ण आदि असत् वस्तुओं का आत्मा में भाव (सत्ता) नहीं है और न सद्वस्तु आत्मा का अभाव ही है। इन दोनों का निर्णय यथार्थ जानने वाले विवेकियों ने देखा है॥

येन सर्वं जगद्व्याप्तं तज्जानीह्यविनाशि सत् ।
अनश्वरात्मनः कोऽपि नाशं कर्तुं न शक्यते ॥२६॥

अर्थ—जिससे यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है उसको अविनाशी और सत् जानो । कोई भी अनश्वर (नाशरहित) आत्मा का नाश नहीं कर सकता ॥

नित्यश्चानश्वरो ह्यात्मा प्रमाणविषयो नच ।
तस्य देहादिसंबन्धो विनाशी भार्गवोच्यते ॥२७॥

अर्थ—हे परशुराम ! आत्मा नित्य (सर्वदा एक रूप,) और अविनाशी है । तथा प्रमाण विषय (प्रमाणों से प्रत्यक्ष) नहीं है उसको देह आदि का जो संबन्ध है वह नाशवान् कहा जाता है ॥

तस्मात् क्रोधं परित्यज्य भव शान्तो द्विजोत्तम ।
हन्तारं हन्यमानं वात्मानं जानाति यो नरः ॥२८॥
तावुभावपि विज्ञातुं न योग्याविति मे मतिः ।
नहन्त्यात्मा यतः कं चिद्धन्यते नच केनचित् ॥२९॥

अर्थ—तस्मात् हे द्विजोत्तम ! क्रोध छोड़ कर शान्त होओ। जो पुरुष आत्मा को मारने वाला या मारा जाने वाला जानता है ये दोनों भी ज्ञान के योग्य नहीं हैं ऐसी बुद्धि (समझ) है क्योंकि आत्मा न किसी को मारता है न किसी से मारा जाता है ॥

आत्मा नोत्पद्यते जातु न जातु म्रियतेऽपि च ।
नोत्पद्य वर्धते नैव स्वभावाद्वर्ततेतराम् ॥३०॥
अतोऽजः शाश्वतो नित्यो देह नाशान्न नश्यति ।
सुधियोऽमुं च षड्भावविकाररहितं विदुः ॥३१॥

अर्थ—आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है। न उत्पन्न होकर बढ़ता है और न स्वभाव से बढ़ता है। इसलिये आत्मा अज (जिसकी उत्पत्ति नहीं) नित्य (सर्वदा एक रूप) शाश्वत (सनातन) है वह शरीर नष्ट होने से आप नष्ट नहीं होता। बुद्धिमान् लोग इसको षड्भाव विकार रहित जानते हैं * ॥

उत्पत्तिनाशहीनं य आत्मानं नित्यमव्ययम् ।
वेत्त्यसौ घातयति कं कथं कं विनिहन्ति वा ॥३२॥

अर्थ—जो आत्मा को उत्पत्ति और नाश करके रहित नित्य तथा अव्यय (हानि रहित) जानता है वह पुरुष कैसे किसी दूसरे से नाश करावेगा। वा कैसे नाश करावेगा। अथवा किसका आप नाश करेगा।

त्यक्त्वा जीर्णं यथा वासः परिधत्ते नवं नरः ।
जीर्णमङ्गं परित्यज्य तथात्माप्नोति नूतनम् ॥३३॥
अतो जीर्णशरीरादित्यागात्मा शोचथा वृथा ।
शस्त्रादीन्येवमात्मानं न छेत्तुं प्रभवन्त्यय ॥३४॥
न दग्धुमग्निः शक्नोति न च क्लेदयितुं जलम् ।
नापि शोषयितुं वायुः समर्थो जातु जायते ॥३५॥

अर्थ—मनुष्य जैसे पुराने वस्त्र को त्याग कर नए वस्त्र

* अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति इति षड्भावविकाराः—सत्ता १ उत्पन्न होना २ बढ़ना ३ परिणाम होना ४ घटना ५ नष्ट होना ६

को पहिनता है वैसे ही आत्मा पुराने शरीर को छोड़ के नये शरीर को प्राप्त होता है। इसलिये जीर्ण देहादि के त्याग से वृथा शोक मत करो। ऐसे आत्मा को शस्त्र आदि काट नहीं सकते अग्नि जला नहीं सकता जल गला नहीं सकता और न कभी वायु सुखाने को समर्थ होता है॥

आत्मावयवहीनत्वाच्छिद्राभावान्न युज्यते।
छेत्तुं दग्धुं क्लेदयितुं जातु शोषयितुं क्वचित् ॥३६॥

अर्थ—आत्मा अवयव रहित होने से तथा आत्मा में छेद न होने से काटने जलाने गलाने वा सुखाने के योग्य कदापि किसी स्थान में नहीं है॥

अचलः शाश्वतः स्थाणुरात्मा नित्यश्च सर्वगः।
अचिन्त्यः सोऽयमव्यक्तो विकाररहितः स्मृतः॥३७॥
एवं महर्षयस्तत्त्ववादिनः प्रवदन्त्यमुम्।
तस्मात् ज्ञात्वेत्थमात्मानं न शोक उचितस्तव ३८॥

अर्थ—आत्मा अचरा सनातन स्थिर नित्य (त्रिकालबाध्य) सर्व जगत् में व्याप्त है। अचिन्त्य (चितवन से बाहर अव्यक्त (नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों से अग्राह्य) विकार रहित (कर्मेन्द्रियों से अप्रत्यक्ष) ऐसा कहा गया है। तत्व वादी महर्षि लोग इस आत्मा को ऐसा कहते हैं। इसलिये ऐसा आत्मा को जान कर तुम को शोक करना उचित नहीं है॥

देहोत्पत्त्या जायमानं विनष्टं देहनाशतः।
मन्य से चेत् त्वमात्मानं शोको नार्हस्तथापि ते॥३९॥

नश्यत्येव यदुत्पन्नं नष्टं जायत एव हि ।
निश्चयादनिवार्यत्वाच्छोकः कर्तुं न युज्यते ॥४०॥

अर्थ—आत्मादेह को उत्पन्न होने से उत्पन्न होता है और देह के नाश से नष्ट होता है ऐसा जो तुम मानते हो तो भी शोक करना तुमको उचित नहीं। निश्चय है कि जो उत्पन्न हुआ उसका नाश होता ही है और जो नष्ट भया वह उत्पन्न होता ही है। इसका निवारण नहीं कर सकते। इसलिये शोक करना ठीक नहीं॥

भूतनामादिरव्यक्तं मध्ये व्यक्तं प्रजायते ।
अव्यक्त एव निधनं याति खेदेन किं मुने ॥४१॥

अर्थ—भौतिक देह आदि की आदि (उत्पत्तिस्थान) अव्यक्त अर्थात् अप्रत्यक्ष प्रकृति है। बीच में व्यक्त (प्रत्यक्ष संसार रूप) होता है। फिर उसी अव्यक्त (अप्रत्यक्ष प्रकृति) में अन्त (लय) हो जाता है। तब हे परशु राम जी! खेद करने से क्या होता है॥

पर्शुरामैनमात्मानं गुरूणामुपदेशतः ।
पश्यत्याश्चर्यवत् कोऽपि वदत्याश्चर्यवत् परः॥४२॥
शृणोत्याश्चर्यवत् कश्चित् कश्चिच्छ्रुत्वापि वेद न ।
देहातीतस्य तस्यैवं नाशः कर्तुं न शक्यते ॥४३॥
सर्वदा सर्व भूतानां देहेष्वात्मा व्यवस्थितः ।
अनाश्यः सर्वभूतानि तस्मान्नार्हसि शोचितुम्॥४४॥

अर्थ—हे परशुरामजी! इस आत्माको गुरुके उपदेशसे कोई आश्चर्यवत् देखता है कोई आश्चर्यवत् कहता है कोई आश्चर्यवत् सुनता है और कोई सुन कर भी इस आत्मा को नहीं जानता। इस लिये देह से अलग ऐसे आत्मा का नाश कोई नहीं कर सकता। यह आत्मा संपूर्ण प्राणियोंके शरीर में अविनाशी स्थित है। इस लिये संपूर्ण प्राणियों का शोक तुम्हें करना न चाहिये ॥

द्वारं दिवः खलु रणे मरणान्नृपाणा-
मुद्घाटितं वरमतोऽत्र मृतिर्न चान्यः।
धर्मोऽस्ति राम निजधर्ममृषिप्रजुष्टं
सेवस्व किं नृपतिधर्मसमाश्रयेण ॥४५॥

अर्थ—निश्चय है कि रण में मरने से क्षत्रियों को स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। इस लिये क्षत्रियों का संग्राम में मरना श्रेष्ठ है क्षत्रियों को दूसरा धर्म श्रेष्ठ नहीं है। हे परशु राम जी तुम ऋषियों कर के सेवित जो अपना (ब्राह्मण का) धर्म है उसका सेवन करो क्षत्रिय धर्म का आश्रय करने से तुमको क्या फल है॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां सप्तमः सर्गः ॥७॥

—⁂—

परशुराम उवाच—

ज्ञानयोगस्त्वया राजन् सम्यगुक्तो निशम्य तम् ।
विनष्टौ क्रोधमोहौ मे क्रियायोगाद्वदाधुना ॥१॥

अर्थ—परशुराम जी कहते हैं कि हे राजा जनक ! आपने मुझे उत्तम प्रकार से ज्ञान योग कहा उसको सुन कर मेरे क्रोध और मोह शान्त हुए अब आप क्रियायोग से कहिये ॥

लक्षणं निश्चलमतेः समाधिस्थस्य किं वद ।
भाषते सच्च किं भूप कथ मास्ते च वर्तते ॥२॥

अर्थ—जो पुरुष अचलबुद्धि समाधियोग में स्थित है उसका लक्षण क्या है ? सो कहो । हे राजन् वह क्या कहता है कैसे रहता है, कैसे बरतता है सो भी कहो ॥

जनक उवाच—

यदा मनोगतान् सर्वान् कामाँस्त्यजति निःस्पृहः ।
हृदात्मन्येव सन्तुष्ट उच्यते स्थितधीस्तदा ॥३॥

अर्थ—राजा जनक कहते हैं कि जिस समय पुरुष इच्छा रहित हो के मनोगत संपूर्ण कामों को त्याग करता है और मन से अपने आत्मा ही में प्रसन्न होता है तब स्थितबुद्धि (निश्चलबुद्धि) कहाता है ॥

न खिन्नं यन्मनो दुःखात् सुखानि न य इच्छति ।
त्यजन् रागं भयं क्रोधं स्थितप्रज्ञो मुनिः स्मृतः॥४॥

अर्थ—दुःख के कारण जिसका मन खेद नहीं पाता, जो

सुख की इच्छा नहीं करता और जो राग (अनुराग) भय और क्रोध को त्याग देता है वह मुनि (मननशील) स्थितप्रज्ञ कहाता है ॥

न स्निह्येत्सुतदाराद्यै न शुभान्याभिनन्दते ।
प्राप्याशुभानि न द्वेष्टि स्थितबुद्धिः स उच्यते॥५॥

अर्थ—जो मनुष्य स्त्री पुत्रादिकों से स्नेह नहीं रखता, जो शुभ विषयों को पा के प्रसन्न नहीं होता और अशुभ विषयों को पा के द्वेष नहीं करता वह स्थितबुद्धि कहाता है ॥

विषयेभ्यो हृषीकाणि यः संहृत्यावतिष्ठते ।
यदा कूर्म इवाङ्गानि बुद्धिस्तस्य प्रतिष्ठिता*॥६॥

अर्थ—जो पुरुष जब विषयों से इन्द्रियों को खींच कर स्थित होता है जैसा कछुआ अपने अङ्गों को समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥

विषयेभ्यो निवर्तन्ते निराहारस्य रागिणः ।
इन्द्रियाणि न रागाद्या मुच्यन्ते वीक्ष्य ते परम्॥७॥

अर्थ—रागी पुरुष जब निराहार रहता है तब उसके इन्द्रिय विषयों से निवृत्त होते हैं । परन्तु रागादिक निवृत्त नहीं होते। ये (रागादिक) भी परमात्मा के दर्शन से छूट जाते हैं ॥

---

* बुद्धि प्रतिष्ठित होने से यह ऐसाही कहाती है कि विषयों में इन्द्रियों को जाने मत दे। इसीलिये बुद्धिद्वारा (किंभाषेत) यह क्या कहता है इस प्रश्न का उत्तर हुआ।

मनो हरन्ति प्रसभं यततोऽपि विवेकिनः ।
इन्द्रियाणि यतस्तानि बलवन्ति स्वभावतः ॥८॥

अर्थ—विवेकी और प्रयत्न करनेवाले के भी मन को बलात्कार अर्थात् बल से इन्द्रिय खींच लेते हैं क्योंकि इन्द्रिय स्वभाव से बलवान् हैं ॥

कृत्येन्द्रियाण्यधीनान्यासीत युञ्जन् परे मनः ।
इन्द्रियाणि वशे यस्य प्रज्ञा तस्य प्रतिष्ठिता*॥९॥

अर्थ—सब इन्द्रियों को अपने अधीन करके परमात्मा में मन लगा कर रहे। सब इन्द्रिय जिसके वश में हैं उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ॥

सुखादिविषयध्याता सुखाद्याधिक्यमीप्सते ।
तदेप्सया भवेत् कामः क्रोध उत्पद्यते ततः ॥१०॥
अविवेको भवेत् क्रोधादविवेकात् स्मृतिभ्रमः ।
शास्त्रेषु गुरुवाक्येषु न विश्वसिति येन सः ॥११॥
बुद्धिं विनश्यति तथा पुरुषस्य स्मृतिभ्रमात् ।
बुद्धेर्विनाशतः सद्यः स्वयमेव विनश्यति ॥१२॥

अर्थ—जो पुरुष सुख आदि विषयों के ध्यान में रहता है वह विषय सुखादि की अधिकता को चाहता है। उस अधिकता की चाह से काम (कामना) उत्पन्न होता है, काम से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से अविवेक होता है, और अवि-

* यह (आसमासते) यह कैसे रहता है इस प्रश्न का उत्तर हुआ।

वेक से स्मृति भ्रम होता है (जिससे शास्त्र और गुरुवाक्यों में विश्वास नहीं रहता उसको स्मृतिभ्रम कहते हैं)। वैसे ही स्मृतिभ्रम से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि नाश होने से तत्काल आप ही नष्ट होजाता है॥

स्वाधीनैरिन्द्रियै रागद्वेषोनै र्विषयांस्तु यः।
वश्यचित्तोऽनुभवति स शान्तिं लभते पुमान्॥१३॥

अर्थ—रागद्वेष करके रहित अपने अधीन इन्द्रियों से मन को वश करके जो विषयों का अनुभव करता है वह पुरुष शान्ति को प्राप्त होता है॥

शान्तिलाभात् परं सर्वदुःखेभ्यो विप्रमुच्यते।
प्रसीदति मनश्चातो धीश्चास्य प्रतितिष्ठति॥१४॥

अर्थ—शान्तिलाभ होने के पीछे सब दुःखों से मुक्त हो जाता है और इससे इसका मन भी प्रसन्न होता है। मन प्रसन्न होने से इसकी बुद्धि भी स्थित निश्चल होती है॥

यस्येन्द्रियाणि न वशे सद्बुद्धिस्तस्य नो भवेत्।
शास्त्रे गुरूपदेशे च न ध्यानं कर्तुमर्हति॥१५॥
नरस्य ध्यानहीनस्य शान्तिमाप्नोति नो मनः।
शान्तिहीनो न लभते मोक्षानन्दं सुखं क्वचित्॥१६॥

अर्थ—जिस पुरुष के इन्द्रिय वश में नहीं उसको शास्त्र और गुरु के उपदेश में सद्बुद्धि नहीं होती और वह ध्यान भी नहीं कर सकता, ध्यानहीन पुरुष का मन शान्ति को नहीं पाता और शान्तिहीन पुरुष मोक्षानन्द और सुख को कभी नहीं पाता॥

इन्द्रियै विंषयासक्तैः सह कार्यकरं मनः ।
आकर्षयति नुः प्रज्ञामम्भसीवानिलस्तरिम् ॥१७॥

अर्थ—क्योंकि विषयासक्त इन्द्रियों के साथ कर्म करने वाला जो मन है वह मनुष्य की बुद्धि को खींच लेता है। जैसे वायु जल में नाव को।

तद्यस्य योगिनः कामं विषयेभ्यश्च सर्वशः ।
आकृष्टानीन्द्रियाणि स्युः प्रज्ञा तस्य प्रतिष्ठिता ॥१८॥

अर्थ—तिससे जिस योगी के संपूर्ण इन्द्रिय विषयों से अत्यन्त खिंचे हुए हैं उसकी बुद्धि स्थित है॥

घोरज्ञानतमश्छन्ना येषां तेषां तु तन्निशि ।
नात्मा प्रकाशते यत्र जाग्रत्यत्र जितेन्द्रियाः ॥१९॥
आत्मतत्त्वं विमृशतां योगिनां विषयात्मनि ।
निशाकाले च भूतानि जाग्रतीन्द्रियविभ्रमात् ॥२०॥

अर्थ—अज्ञानरूप अन्धकार से जिनकी बुद्धि ढकी हुई है उनकी उस रात्रि में (जहां आत्मा प्रकाशित नहीं होता वहां) जितेन्द्रिय योगिजन जागते हैं। और आत्म तत्त्वविचारक योगि जनों का जो विषयरूप रात्रिसमय है उसमें संपूर्ण प्राणी इन्द्रियों के विभ्रम (मनमानीचाल) से जागते हैं॥

प्रविशन्त्यापि आगत्य सर्वतः पूर्णमम्बुधिम् ।
अनतिक्रान्तमर्यादं तथा यस्य च योगिनः ॥२१॥
मनसा निर्विकारस्यान्तरेव प्रविशन्ति ते ।
कामाः स मोक्षमाप्नोति नैवं विषयकामुकः ॥२२॥

अर्थ—जैसे अपनी मर्यादा से चलायमान नहीं होनेवाले और सब ओर से भरे हुए समुद्र में चारो ओर से जल आ कर प्रवेश करता है वैसेही मन में विकार से रहित जिस योगी के भीतरही सब कामना प्रवेश करती हैं (लीन होती हैं बाहर नहीं आतीं) वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

यस्त्यक्त्वा कामनाः सर्वाः कर्माचरति निस्पृहः ।
अहंकारममत्वाभ्यां हीनः शान्तिमुपैति सः * ॥२३॥

अर्थ—जो संपूर्ण कामनाओं को छोड़ कर निस्पृह होकर कर्म करता है । और अहंकार तथा ममता से रहित है वह शान्ति को प्राप्त होता है ॥

एषा ब्रह्मज्ञाननिष्ठा तदेना-
मन्ते काले संस्मरन्नैति मोहम् ।
आदेहान्तं चाभ्यसन् मोक्षमेति
नो सन्देहो भार्गवात्रास्ति कश्चित् ॥२४॥

अर्थ—हे परशुराम जी ! यह ब्रह्म ज्ञान की निष्ठा (अवधि) है । इसको जो अन्तकाल में स्मरण करता है वह मोह को नहीं प्राप्त होता । और जो जन्म से लेकर शरीर छूटने तक इसका अभ्यास करता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥

इति आत्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यराममेघफलालगुप्तकृत
भाषाटीकायामष्टमः सर्गः ॥८॥

* यह (कर्म कैसे करना) कैसे करना है इस प्रश्न का उत्तर है ।

परशुरामउवाच ।

कर्मयोगो ज्ञानयोगो नृपयोगमिति द्विधा।
तयोः श्रेष्ठतरं ब्रूहि राजन् यद्यस्त्यनुग्रहः ॥१॥

अर्थ—परशुरामजी कहते हैं कि हे राजन्! कर्मयोग और ज्ञानयोग ऐसा दो प्रकार का योग कहते हो। जो आपकी कृपा हो तो उन दोनों में जो एक श्रेष्ठ हो सो कहो॥

जनक उवाच—

कर्माण्यकृत्वा पुरुषो न ज्ञानं लभते परम् ।
सन्यासधारणादेव तथा मोक्षो न लभ्यते॥२॥

अर्थ—राजा जनक कहते हैं कि कर्म किये विना पुरुष ज्ञान को नहीं पाता। वैसेही (कर्म किये विना) केवल सन्यास धारण से मोक्ष नहीं प्राप्त होता॥

विना कर्मक्षणमपि कोऽपि जातु न तिष्ठति।
सर्वो जनः प्रकृतिजैर्गुणैः स्वाभाविकैरिह ॥३॥
रागाद्यैरवशोभूत्वा कर्मण्येव प्रवर्तते ।
इन्द्रियाणि नियम्यापि मनसा विषयान् स्मरन्॥४॥
कुर्वन् कर्मेन्द्रियैः कर्म स चौरः कपटी च सः ।
यस्तु भार्गव संयम्य मनो ज्ञानेन्द्रियाणि च ॥५॥
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमारभेत परित्यजन्।
फलाशां कर्मणां नूनं ज्ञानवान स स्मृतो बुधैः॥६॥

अर्थ—बिना कर्म के कोई क्षण भर भी कदापि नहीं रह सकता। सभी मनुष्य प्रकृतिजन्य स्वाभाविक रागादि गुणों करके विवश होकर कर्महो में प्रवृत्त होजाते हैं। जो इन्द्रियों को रोक करके भी मन से विषयों का स्मरण करता हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है वह चोर और कपटी है। और हे परशुरामजी! जो पुरुष मन और ज्ञानेन्द्रियों को रोक कर कर्मों के फल की आशा को छोड़ कर कर्मेन्द्रियों से कर्म योग का आरम्भ करता है उसको विद्वान् लोग ज्ञानवान् कहते हैं॥

यद्वर्णाश्रमजं कर्म कार्यमेव नरेण तत्।
यतोह्यकर्मणः कर्मकरणं श्रेष्ठमुच्यते ॥७॥
न सिध्यति विना कर्म देहयात्रापि देहिनाम्।
यानीश्वरनिमित्तानि कर्माणि स्युस्ततोऽन्यतः ॥८॥
कर्मणो बन्धनं लोके भवतीति सुनिश्चितम्।
मुक्तसंगस्ततो भूत्वा स्वकर्माणि समाचरेत् ॥९॥

अर्थ—जो वर्ण और आश्रम का कर्म है वह मनुष्य को करना ही चाहिये। क्योंकि कर्मरहित होने से कर्म करना श्रेष्ठ है। मनुष्यों की देहयात्रा (निर्वाह वा गति) भी बिना कर्म के नहीं हो सकती। जो कर्म ईश्वर के निमित्त हैं उनसे अन्यत्र लोक में कर्म का बन्धन होता है यह नियम है। इसलिये मुक्त सङ्ग (विषयेच्छा से रहित) होकर अपने अपने कर्मों को करना चाहिये॥

पुरा प्रजापतिर्ब्रह्मायज्ञकर्त्रीर्द्विजादिकाः।
प्रजाः स्टष्ट्वाब्रवीदेतद्यूयं यज्ञेन चामुना॥१०॥

प्रसविष्यध्वमेपोऽस्तु भवदिष्टार्थदायकः ।
यज्ञेनानेन देवाँस्तु हविर्भोगादिपूजया ॥११॥
प्रीणयध्वं ततो देवा युष्मान् वृष्ट्याद्यनुग्रहैः ।
पास्यन्तीत्थं परं श्रेयो मिथो भावनयाप्स्यथ ॥१२॥

अर्थ—पहिले समय में प्रजापति ब्रह्माजी ने यज्ञ करने वाली ब्राह्मण आदि प्रजा उत्पन्न करके यह कहा कि तुम लोग इस यज्ञ से (अवभृथ) स्नान करो यह तुम्हारे इष्ट अर्थ को देनेवाला होगा। इस यज्ञ से देवताओं को हविर्भोग आदि पूजा करके प्रसन्न करो। तब देवता लोग तुमको वृष्टि आदि की कृपा करके पालेंगे। इस प्रकार (देवता और तुम लोग) परस्पर भावना से परम कल्याण को प्राप्त होगे॥

प्रदास्यन्तीष्टभोगान् वो देवता यज्ञपूजिताः ।
देवलब्धान्नभुक् चौरः पञ्चयज्ञादिकं विना ॥१३॥

अर्थ—यज्ञ में पूजित देवता तुम लोगों को इष्ट उपभोग के पदार्थ देंगे। इसलिये पंच महायज्ञ आदि कर्म किये विना जो देवता से पाए हुए अन्न को भोजन करता है वह चोर है॥

वैश्वदेवादिशिष्टान्नभुक् पापेभ्यः प्रमुच्यते ।
स्वोदरार्थं दुराचाराः पचन्तः पापभोगिनः ॥१४॥

अर्थ—वैश्वदेव आदि यज्ञों से बचे हुए अन्न को भोजन करनेवाले लोग सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। और जो दुराचारी अपने ही पेट के लिये अन्न पकाते हैं वे पापही को भोगते हैं॥

अन्नात् सर्वाणि भूतानि भवन्त्यन्नानि वृष्टितः ।
वृष्टिर्यज्ञात् स कर्मभ्यः कर्म संपद्यते श्रुतेः ॥१५॥
अक्षराद् ब्रह्मणो वेदास्तस्मात् सर्वगतं तु तत् ।
ब्रह्म प्रतिष्ठितं यज्ञे सर्वदा विद्धि भार्गव ॥१६॥

अर्थ—अन्न से संपूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से, वृष्टि यज्ञ से, यज्ञ कर्म से, कर्म वेद से, और वेद अक्षररूप पर ब्रह्म से होते हैं। इसलिये हे परशुरामजी। उस सर्वगत ब्रह्म को सर्वदा यज्ञ में प्रतिष्ठित (विराजमान) जानो॥

यश्चैतदनुसारेण नरो नेहानुवर्तते ।
स पापी विषयासक्तो निरर्थं तस्य जीवनम् ॥१७॥

अर्थ—जो पुरुष इस लोक में उसके अनुसार नहीं चलता वह पापी जीव विषयों में आसक्त है और उसका जीवन व्यर्थ है॥

आत्मनैव रतिर्यस्य भोगेच्छारहितोऽपि च ।
स्वयमात्मनि संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१८॥

अर्थ—आत्माही से जो प्रीति रखता है, भोग की इच्छा से रहित है (तृप्त है) और आपही अपने में संतुष्ट है उसको (कुछ भी) करना शेष नहीं है॥

पुण्यैः पापैश्च तस्यार्थः कोऽपि नास्तीति निश्चितम् ।
सर्वभूतेषु तस्यास्ति कोप्यर्थानां न चाश्रयः ॥१९॥

अर्थ—उस पुरुष को पुण्य कर्म से या पाप कर्म से कुछ

प्रयोजन नहीं है यह निश्चय है। और उसको संपूर्ण प्राणियों में कोई अर्थ का आश्रय (अर्थ का आसरा वा अर्थ की इच्छा) भी नहीं है॥

अतः फलेच्छया हीनः कर्म कर्तव्यमाचर।
भोगेच्छारहितः कर्म कुर्वन् मोक्षं समश्नुते ॥२०॥

अर्थ—इसलिये फल की इच्छा से रहित होकर कर्तव्य कर्म करो। भोगादि इच्छा से रहित होकर जो कर्म करता है सो मोक्ष को प्राप्त होता है॥

कर्मणैवाप्नुवन् मोक्षं पर्शुराम महर्षयः।
कर्तुं कर्मोचितं लोकसंग्रहार्थं च धीमतः ॥२१॥

अर्थ—हे परशुरामजी! महर्षि लोग कर्म ही से मोक्ष को प्राप्त हुए हैं इसलिये बुद्धिमान् को लोकसंग्रह के लिये तो भी कर्म करना उचित है॥

श्रेष्ठा यत् कर्म कुर्वन्ति तदेव च परे जनाः।
प्रमाणं मन्यते यत् स तल्लोकोऽप्यनुवर्तते ॥२२॥

अर्थ—श्रेष्ठलोग जो काम करते हैं वही और लोग भी करते हैं। वे श्रेष्ठजन जिसको प्रमाण मानते हैं औरलोग भी उसीके अनुसार चलते हैं॥

कर्तव्यकर्मकरणं श्रेष्ठानामुचितं ततः।
अन्यथा कर्मलोपेन नश्येत् तदनुगो जनः ॥२३॥

अर्थ—इसलिये श्रेष्ठजनों को कर्तव्य कर्म करना उचित है। अन्यथा (वे कर्तव्य कर्म न करेंगे तो) उनके अनुसारी चलने वाले सब लोग कर्म लोप से नष्ट हो जायंगे॥

मासमश्नन्ति मुनय इति दृष्ट्वा निशम्य च।
सर्वेऽपि मांसमश्नीयुरिति श्रेष्ठः सदाचरेत् ॥२४॥

अर्थ—मुनि लोग मांस खाते हैं ऐसा देख के वा सुनकर भी सब लोग मांस खाने लगेंगे इसलिये श्रेष्ट मनुष्य अच्छा कर्म करे॥

कर्माज्ञैः कारयेत् कुर्यात् स्वयं चेत्युचितं सताम्।
आत्मानमिन्द्रियादिभ्यः कर्मभ्यश्च विवेकिनः ॥२५॥
पृथग् ज्ञात्वैव कुर्वन्ति न चाहङ्कारमात्मनि।
स्वयं प्रवृत्तानि विदुर्विषयेष्विन्द्रियाणि ते ॥२६॥

अर्थ—इसलिये सज्जनों को उचित है कि अज्ञानी लोगों से कर्म करावें और आप भी करें। विवेकी पुरुष अपने को इन्द्रियादिकों से और कर्मों से अलग जान करके ही अपने में अहङ्कार नहीं करते। क्योंकि वे जानते हैं कि इन्द्रिय अपने अपने विषयों में आपही प्रवृत्त हैं॥

निन्दन्तो ये मम मतं नानुतिष्ठन्ति विद्धि तान्।
संपूर्णज्ञानरहितान् नष्टांश्च मृतकोपमान् ॥२७॥

अर्थ—जो लोग मेरे मत की निन्दा करते हैं और उसके अनुसार आचरण नहीं करते उनको जानो कि संपूर्ण ज्ञान से रहित नष्ट और मृतक के तुल्य हैं॥

स्वभावमनुवर्तन्ते प्राक्कर्माधीनमात्मनः।
ज्ञानिनोऽज्ञाः प्रकृत्यैव किं स्यादिन्द्रियनिग्रहात् ।२८।

अर्थ—ज्ञानी लोग और अज्ञानी भी अपनी प्रकृतिही से प्राचीन कर्म के आधीन जो स्वभाव है उसीके अनुसार चलते हैं फिर इन्द्रिय रोकने से क्या फल होगा॥

प्रातिकूल्यानुकूल्याभ्यां विषयेषु प्रतीन्द्रियम् ।
दस्यू द्वौ द्वेषरागौ स्तो न तिष्ठेत् तद्वशे बुधः ॥२९॥

अर्थ—विषयों में प्रति इन्द्रियों की प्रतिकूलता से द्वेष और अनुकूलता से, राग (प्रेम) होता है। ये दोनों दस्यु (लुटेरे वा शत्रु) हैं बुद्धिमान् इनके वश में कभी न रहे॥

स्वाचरितात् परधर्माद् विगुणत्वेऽपि स्वधर्म एव वरः ।
मरणं वरं स्वधर्मे परधर्मः किल भयानको नृणाम्३०

अर्थ—अच्छी भांति आचरण किये गए हुए पर धर्म से स्वधर्म यदि निर्गुण (बुरा) भी हो तो भी श्रेष्ठ है। अपने धर्म में रह कर मरना श्रेष्ठ है, क्योंकि मनुष्यों को परधर्म निश्चय से, भयानक (भयदायक) है॥

यत् पृच्छसि तौ भार्गव कामक्रोधौ रजोगुणोद्भूतौ ।
अत्यशनावघमूलौ मोक्षपथे तावरी विद्धि ॥३१॥

अर्थ—हे परशुरामजी! जो तुम पूछते हो, सो काम और क्रोध हैं। वे रजोगुण से उत्पन्न, विषयों का अतिभोजन करने वाले और पाप की जड़ हैं। उनको मोक्षमार्ग में शत्रु जानो॥

धूमेन वह्निर्मुकुरो मलेन
गर्भो यथा वेष्टनचर्मणा च ।

इहावृतं सर्वत एव तद्वत्
क्रोधेन कामेन जगत् समग्रम् ॥३२॥

अर्थ—जैसे धुंए से आग, मैल से दर्पण और वेष्ठनचर्म (गर्भ लपेटने के चर्म) से गर्भ, चारों ओर से यहां घिरा रहता है वैसेही काम, क्रोध से संपूर्ण जगत् घिरा हुआ है ॥

नित्यं ज्ञानिद्विषा कामरूपेण ज्ञानमावृतम् ।
प्रदहत्यग्निवदसौ न कदाचन तृप्यति ॥३३॥

अर्थ—सदा ज्ञानियों के शत्रु काम ने ज्ञान को घेर रक्खा है। यह अग्नि के ऐसा जलाता है और कभी तृप्त नहीं होता॥

मनो बुद्धीन्द्रियाण्यत्र कामस्य स्थानमुच्यते ।
तत्रस्थो ज्ञानमावृत्य मोहयत्येव देहिनम् ॥३४॥

अर्थ—मन, बुद्धि और इन्द्रिय ये काम के स्थान कहाते हैं। काम यहां स्थित होके ज्ञान को घेर के प्राणी को मोहित करता ही है ॥

तदिन्द्रियाणि संयम्य कामं दुष्कृतिनं जय ।
गुरूपदेशसच्छास्त्रज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥३५॥

अर्थ—इसलिये इन्द्रियों को जीत कर पापी काम को जीतो। जो गुरूपदेश, शास्त्र, ज्ञान और विज्ञान इन सभों का नाश करने वाला है ॥

देहादिभ्यः पराण्याहुरिन्द्रियाणि ततो मनः ।
बुद्धिस्तु मनसः श्रेष्ठा बुद्धेः श्रेष्ठः स ईश्वरः ॥३६॥

अर्थ—देहादि से इन्द्रिय श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से जो श्रेष्ठ है वह ईश्वर है।

निश्चयात्मकधिया नियम्य तत्
संशयात्मकमनो धियः परम्।
साक्षिणं समवगत्य चेश्वरं
कामशत्रुमथ दुर्धरं जय ॥३७॥

अर्थ—निश्चयात्मक बुद्धि से उस संशयात्मक मन को रोक कर बुद्धि से श्रेष्ठ साक्षी परमेश्वर को भी जान कर दुर्धर (अजेय) कामरूप शत्रु को जीतो॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां नवमः सर्गः ॥९॥



वाल्मीकिरुवाच—

कष्टेनाप्तो मया योग इत्यूचे जनकोनृपः।
कथं लब्धस्त्वया ब्रूहि कृपयेत्याह भार्गवः ॥१॥

अर्थ—श्रीवाल्मीकि, ऋषि रामचन्द्रजी से कहते हैं कि जनक राजा ने परशुरामजी से ऐसा कहा कि यह योग मैंने बड़े कष्ट से पाया तब परशुरामजी ने यह कहा कि तुमने योग कैसे पाया सो कृपा करके कहो॥

जनक उवाच—

अथैकदा शिवमुदे बहुकालं तपोऽचरम् ।
भूत्वा प्रसन्न ईशानो दत्वा दर्शनमब्रवीत् ॥२॥

अर्थ—जनक राजा परशुरामजी से कहते हैं कि आरंभ में एक समय शिव को प्रसन्न करने के लिये मैंने बहुत काल तक तपस्या की, शिवजी प्रसन्न होकर दर्शन देकर बोले ॥

राजन् यदिच्छसि वृणीष्व वरं ततोऽहं
नत्वाऽब्रवं समुपशिक्षय योगमार्गम् ।
श्रीयोगनाथ कृपया प्रणताय मह्यं
सोऽशिक्षयत् स्वयमनश्वरयोगमार्गम् ॥३॥

अर्थ—हे राजन् जो चाहता है सो वर मांग । उसके उपरान्त प्रणाम करके मैंने कहा कि हे श्रीयोगियों के नाथ ! कृपा कर मुझ नम्र को योगमार्ग सिखलाओ। उपरान्त वे शिव जी भी स्वयं अविनाशी योगमार्ग को सिखलाते भए ॥

शिव उवाच—

नो नास्तिकाय खलु नो परनिन्दकाय
देयस्त्वया नृप कदाप्यविनाशियोगः ।
उक्तो हि योगसुविधिः परमात्मना मे-
ऽहं भास्कराय मनवे स उपादिदेश ॥४॥
इक्ष्वाकवे मनुरवेत्य स चाधिकार-

हीनान् सुतानकथयन्न च तेभ्य एतम् ।
संगोपितोऽप्यभवदेव विनष्टमूल-
स्तुभ्यं मया जनकराज स योग उक्तः ॥५॥

अर्थ—शिव जी कहने लगे कि हे राजन्! निश्चय रक्खो कि इस अविनाशी योग को कभी नास्तिक और परनिन्दक को मत कहना। मुझे इस योग का उत्तम विधि परमात्मा ने कहा मैंने सूर्य्य को कहा, सूर्य्य ने मनुजी को और मनुजी ने इक्ष्वाकु राजा को कहा। उस इक्ष्वाकु राजा ने अपने पुत्रों को अनधिकारी जान के उनको यह योग नहीं कहा। इस प्रकार गुप्त होने पर भी इस योग का मूल नष्ट होगया। सो हे जनकराज यह योग मैंने तुमसे कहा॥

मुनिभिर्मोक्षमिच्छद्भिरित्थं ज्ञात्वा पुरातनैः ।
सत्वशुद्ध्यै कृतं कर्म पूर्वैरपि युगान्तरे ॥६॥
प्रवृत्तो भव भूपाल तस्मात् त्वमपि कर्मणि ।
इत्युक्त्वा व्यरमच्छम्भुर्योगं तं ते ब्रुवे मुने ॥७॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरातन (प्राचीन) मुनियों ने ऐसा जान कर सत्वशुद्धि के लिये कर्म किया है, युगान्तर में भी पहिले लोगों ने कर्म किया है। इसलिये हे राजन्! तुम भी कर्म में प्रवृत्त होओ। ऐसा कहके शिवजी ने विराम किया (कहना बन्द किया)। जनक राजा कहते हैं कि हे परशुराम जी! उस योग को मैं तुम्हें कहता हूं॥

विवेकिनोऽपि किं कर्म किमकर्मेतिमोहिताः ।

तं ते वक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा संसारान्मुच्यसेऽशुभात् ।८।

अर्थ—विवेकी लोग भी कौनसा कर्म करने योग्य है और कौनसा अयोग्य है इसमें मोह को प्राप्त होते हैं। मैं वह तुमको कहता हूं जिसको जान कर तुम अशुभ संसार से मुक्त हो जाओगे ॥

कर्म यच्छास्त्रविहितं निषिद्धं कर्म यद् भवेत् ।
त्याज्यं कर्म च बोद्धव्यं दुर्ज्ञेया कर्मणो गतिः ॥९॥

अर्थ—जो कर्म शास्त्र विहित हो, जो निषिद्ध हो और जो त्याज्य हो वह जानना चाहिये। क्योंकि कर्म की गति कष्ट से भी जानने के योग्य नहीं है ॥

विहिते कर्मणि कर्तुं यदनुचितं यच्च कर्तव्यम् ।
वेत्ति निषिद्धे कर्मणि लौकिकरागादिफलनिरिच्छो यः

सर्वशुभकर्मकर्तृषु नरेष्वसौ पण्डितः प्रोक्तः ।
अतएव च सकलानां सुकर्मणामेष कर्ता स्यात् ॥११॥

अर्थ—जो विहित कर्मों में करने योग्य नहीं और जो निषिद्ध कर्मों में करने योग्य है उनको जो पुरुष जानता है और जो लौकिक रागादि फल की इच्छा नहीं रखता वह संपूर्ण शुभ कर्म के करने वाले मनुष्यों में पण्डित कहाता है। इसलिये यह संपूर्ण सत्कर्मों का कर्त्ता हो सकता है ॥

काम संकल्पहीनानि सर्वकर्माणि यस्य तु ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्मौघः पण्डितोऽपि विवेकिभिः ॥१२॥

अर्थ—जिसके संपूर्ण कर्म, काम और संकल्प से रहित हैं उसको विवेकी लोग ज्ञानरूप अग्नि में संपूर्ण कर्मों को जलाने वाला और पण्डित भी कहते हैं ॥

सदास्वानन्दतृप्तो यो हीनः कर्मफलेच्छया ।
निराश्रयः प्रवृत्तोऽपि कर्मण्येव न कर्मकृत् ॥१३॥

अर्थ—जो निराश्रय होकर कर्म फल की इच्छा से रहित है और सदा अपने आनन्द में तृप्त रहता है वह कर्मों में प्रवृत होकर भी कुछ नहीं करता ॥

यः कामनादिरहितश्च वशीकृताङ्ग-
चित्तस्त्यजन्नपि परिग्रहजातमत्र ।
शारीररक्षणनिमित्तकमात्रकर्म
कुर्वंश्च नैव लभते दुरितानि मर्त्यः ॥१४॥

अर्थ—जो कामनादि से रहित हो शरीर और चित्त को स्वाधीन कर सब परिग्रह को छोड़ कर भी केवल शरीर रक्षण के निमित्त कर्मों को करता है वह मनुष्य पापफल को कभी नहीं प्राप्त होता ॥

शीतोष्णादौ समस्तुष्टो याञ्चावर्जितलाभतः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु समो हर्षविषादयोः ॥१५॥
यः स कर्माणि कृत्वापि बन्धं नाप्नोति मानवः ।
रागादिमुक्तो निष्कामो ज्ञाने यस्य स्थिरं मनः ॥१६॥
ईश्वराराधनार्थं तु कुर्वाणः कर्म यो नरः ।
सवासनेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यः स प्रमुच्यते ॥१७॥

अर्थ—जो मनुष्य शीत उष्ण आदि द्वंद्वों को समान जानता है जो बिना मांगे हुए लाभ से संतुष्ट रहता है, जो संपूर्ण भूतों से निर्वैर रहता है, जो हर्ष और विषाद में समान रहता है वह कर्म करने पर भी बन्ध नहीं पाता। जो पुरुष रागादि से मुक्त और कामना रहित है, जिसका चित्त ज्ञान में स्थित है और जो ईश्वर की आराधना के लिये कर्म करता है वह वासनासहित सपूर्ण कर्मों से मुक्त हो जाता है॥

घृतादि हव्यं पात्राणि होत्रग्निहवनक्रियाः।
ब्रह्मैव वेत्ति ब्रह्मान्यन्नाप्तव्यं तस्य शिष्यते ॥१८॥

अर्थ—घृत आदि हव्य (होम की वस्तु) होम के पात्र, होम कर्त्ता, होम का अग्नि, और होम की क्रिया इन सभों को जो ब्रह्म ही जानता है उसको ब्रह्म से अतिरिक्त पाने योग्य वस्तु कुछ शेष नहीं है॥

होमादिकमुपासन्ते देवार्थं कर्म योगिनः।
ज्ञानयोगकराः कर्म ज्ञानाग्नौ हवनादिकम् ॥१९॥
लयं ब्रह्मार्पणधिया कुर्वन्ति ब्रह्मचारिणः।
नैष्ठिकाः संयमाग्नौ तु श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि च ॥२०॥
गृहस्था इन्द्रियाग्नौ शब्दादीन् विषयानपि।
ध्यानावस्थितलोकास्तु चित्तकाग्न्यविभावसौ ॥२१॥
समाहृकेन्द्रियेष्वर्पयित्वा सर्वेन्द्रियक्रियाः।
आत्मज्ञानसमिद्धे तु कुर्वन्ति ध्यानतो लयम् ॥२२॥

अर्थ—कर्मयोग करने वाले पुरुष देवताओं के अर्थ होमादि की उपासना करते हैं। ज्ञानयोग करने वाले ज्ञानरूप अग्नि में ब्रह्मार्पण बुद्धि से हवनादि कर्म का लय करते हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुरुष श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों को संयम रूपी अग्नि में लय करते हैं। गृहस्थाश्रमी लोग इन्द्रियादि अग्नि में शब्द आदि विषयों को लय करते हैं। ध्यानावस्थित लोक आत्मध्यान से हुलगे हुए चित्त की एकाग्रता रूपी अग्नि में संपूर्ण इन्द्रियों के व्यवहार को अपने अपने ग्राहक इन्द्रियों में अर्पण करके ध्यान से लय करते हैं॥

द्रव्यैः केचिद्यज्ञकृतो योगेन तपसा परे ।
मनसाध्ययनेनान्ये ज्ञानेनान्ये यजन्ति च ॥२३॥
यतयः स्वस्वभावेन निश्चिन्तास्तदुपासते ।
कुर्वन्ति पूरकेणैके लयं प्राणमपानके ॥२४॥
प्राणेऽपानं रेचकेन केचित् केचिच्च कुम्भकात् ।
प्राणयामपरा रुद्ध्वा स्वप्राणापानयोर्गती ॥२५॥

अर्थ—कोई द्रव्य से, कोई योगाभ्यास से और कोई तप से यज्ञ करते हैं। कोई मनरूपी यज्ञ से, कोई वेदाभ्यास से और कोई ज्ञानयज्ञ से यजन करते हैं। और यती लोग अपने स्वभाव से निश्चिन्त हो उस परब्रह्म की उपासना करते हैं। कोई अपान में प्राण को पूरक मार्ग से लय करते हैं। कोई प्राण में अपान को रेचक मार्ग से लय करते हैं। और कोई कुम्भक से प्राण और अपान की गति को रोक कर प्राणायाम में तत्पर होते हैं॥

केचित् क्षामीकृताहारा इन्द्रियेष्विन्द्रियक्रियाः ।
जुहून्त्येते यज्ञविदो यज्ञैः कुर्वन्त्यघक्षयम् ॥२६॥

अर्थ—कोई पुरुष आहार को घटा के इन्द्रियों के व्यापारों को इन्द्रियों में हवन करते हैं। ये सब यज्ञ जानने वाले यज्ञ करके पापों का नाश कर देते हैं ॥

यज्ञं समाप्य समयेऽवशिष्टेऽमृतसंज्ञकम् ।
अन्नमश्नन्ति ते ब्रह्म प्राप्नुवन्ति सनातनम् ॥२७॥
यज्ञकर्मविहीनस्य नायं लोकः परः कथम् ।
श्रुतौ बहुविधा यज्ञा विस्तार्यैवं प्रदर्शिताः ॥२८॥

अर्थ—यज्ञ समाप्त करके अवशिष्ट काल में अमृत संज्ञक अन्न को भोजन करते हैं वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञकर्म से हीन जो लोग हैं उनका यह लोकही सिद्ध नहीं तब परलोक कैसे सिद्ध होगा। इस प्रकार से अनेक प्रकार के यज्ञ वेद में विस्तार करके दिखलाये हैं ॥

यज्ञानेतान् वाङ्मनःकर्मजातान्
विद्धि ज्ञानैकावगम्यः परेशः ।
हृच्छुद्धया ज्ञानोपयोगी च यज्ञो
यज्ञं ज्ञात्वा मोक्ष्यसे संसृतेस्त्वम् ॥२९॥

अर्थ—इन यज्ञों को वाणी, मन और कर्म से उत्पन्न हुए जानो, परमेश्वर एक ज्ञानही से जाना जाता है और चित-शुद्धि से ज्ञान का उपयोगी है सो [illegible]
संसार से मुक्त होगे ।

ज्ञानयज्ञः परः श्रेयान् द्रव्ययज्ञाद्यतोऽखिलम् ।
फलेन सहितं कर्म ज्ञानएव समाप्यते ॥३०॥

अर्थ—द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ परम श्रेष्ठ है क्योंकि संपूर्ण फल सहित कर्म ज्ञान ही में समाप्त (पूरा) हो जाता है॥

प्रणामप्रश्नसेवाभिस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनस्तव ।
उपदेक्ष्यन्ति ते तत्वविचारे निरताः सदा ॥३१॥

अर्थ—प्रणाम, प्रश्न और सेवा करने से वे ज्ञानी लोक तुमको उस ज्ञान का उपदेश करेंगे जो ज्ञानी सर्वदा तत्व विचार में निरत रहते हैं।

विज्ञायैवं वन्धहेतुं मोहं न प्राप्स्यसे पुनः ।
द्रक्ष्यस्यखिलभूतानि ज्ञानेन परमात्मनि ॥३२॥

अर्थ—यो ज्ञान को जान कर बन्धनिमित्त मोह को फिर नहीं प्राप्त होगे। इस ज्ञान से संपूर्ण भूतों को परमात्मा मे देखोगे॥

यदि त्वमसि पापिभ्यः सर्वेभ्योऽधिकपापकृत् ।
तरिष्यसि तथापि त्वं पापाब्धेज्ञाननौकया ॥३३॥

अर्थ—यद्यपि तुम संपूर्ण पापियो से अधिक पाप करने वाले हो तथापि पापरूप समुद्र को ज्ञानरूपी नाव से तर जाओगे॥

करोति भस्मसात् काष्ठानीद्धोऽग्निर्ज्ञानपावकः ।
वन्धहेतूनि कर्माणि कुरुते भस्मसात् तथा ॥३४॥

अर्थ—जैसे सुलगा हुआ अग्नि संपूर्ण लड़कियों को भस्म कर देता है वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि संपूर्ण बन्धहेतु कर्मों को भस्म कर देता है ॥

इहान्यज्ज्ञानसदृशं पवित्रं तपआदि न ।
योगाद्विन्दत्यनायासं तत् कालेनात्मनि स्वयम् ॥३५॥

अर्थ—इहलोक में ज्ञानसदृश पवित्र वस्तु दूसरी तप आदि नहीं है यह ज्ञान योगाभ्यास से आत्मा में अनायास कुछ काल में आप ही प्राप्त होता है ॥

गुरूपदेशे श्रद्धावान् विवेकीन्द्रियनिग्रही ।
ज्ञानमाप्नोति तस्माच्च न चिरान्मोक्षमाप्नुयात् ॥३६॥

अर्थ—गुरु के उपदेश किये हुए वाक्यों में श्रद्धा रखने वाला विचारशील और इन्द्रियनिग्रह करने वाला पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है। और ज्ञान प्राप्त होने से शीघ्रही मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

न वेद गुरुवाक्यं योऽश्रद्धवान् संशयात्मधीः ।
स नश्यति सुखं तस्य परत्रेह न लभ्यते ॥३७॥

अर्थ—जो गुरु वाक्यों को वस्तुतत्व से नहीं जानता, श्रद्धारहित और संशयात्मकबुद्धिवाला है सो नाश को प्राप्त होता है। और उसको इहलोक या परलोक में सुख नहीं मिलता ॥

योगेन सर्वकर्माणि यः करोतीश्वरार्पणम् ।
येन ज्ञानेन संछिन्नाः संशयाः स विवेकयुक् ॥३८॥

स्वकर्मफलबन्धे तु न जातु पतति क्वचित् ।
अतः परशुराम त्वं संशया ये निजात्मनः ॥३९॥
अज्ञानसंभवा स्ताँस्तु हृदयस्थान् विचार्य च ।
ज्ञानखड्गेन संछिन्द्य योगसिद्धिं समाप्नुहि ॥४०॥

अर्थ—जो योगाभ्यास से संपूर्ण कर्मों को ईश्वर ही के अर्पण करता है और जिसने ज्ञान से संशय को नाश किया है वह विवेकी पुरुष अपने कर्म फलों के बन्धन में कभी कहीं नहीं पड़ता इसलिये हे परशुराम जी! जो अज्ञान से उत्पन्न हृदयस्थित अपने आत्मा के सन्देह हैं उनको विचार कर ज्ञानरूपी तरवार से काट के योगसिद्धि मोक्ष को प्राप्त होओ।

परशुराम उवाच—

संन्यासं कर्मणां योगमपि शंससि तद्द्वयोः ।
योग्य मेकं तु यच्छ्रेयोः राजँस्तन्मेऽधुना वद ॥४१॥

अर्थ—परशुराम जी कहते हैं कि हे राजन् कर्मसंन्यास और कर्मयोग अर्थात् कर्म के त्याग और ग्रहण दोनों की प्रशंसा करते हो सो इन दोनों में से एक जो कल्याण कारक और योग्य हो सो मुझे कहो।

जनक उवाच—

संन्यासः कर्मणां योगोऽप्येतौ द्वौ मोक्षदायकौ ।
कर्मयोगस्तयोः श्रेष्ठः कर्मसंन्यासतः स्मृतः ॥४२॥

अर्थ—जनकजी कहते हैं कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग

ये दोनों भी मोक्ष देनेवाले हैं उन दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ कहा है॥

रागद्वेषौ समौ ज्ञात्वा निर्द्वन्द्वो योऽस्त्यसौ नरः ।
मुच्यते नित्यसंन्यासी सुखं संसारबन्धतः ॥४३॥

अर्थ—जो राग और द्वेष को समान जान कर निर्द्वन्द्व ही रहता है वह नित्य संन्यासी सुख से संसाररूपी बन्धन से मुक्त होजाता है॥

संन्यासयोगं त्वथ कर्मयोगं
मूर्खः पृथग् वेत्ति न पण्डितो हि ।
अप्येतयोरेकमिहानुतिष्ठे-
द्योऽसौ समाप्नोति फलं द्वयोश्च ॥४४॥

अर्थ—संन्यासयोग और कर्मयोग को मूर्ख पृथक् जानता है पण्डित पृथक् नहीं जानता। इन दोनों में जो एक का भी अनुष्ठान करता है वह दोनों का भी फल अच्छी भांति पाता है॥

कैवल्यं पदमाप्नोति संन्यासी कर्मयोग्यपि ।
संन्यासकर्मयोगौ द्वावेकं पश्यत् स पश्यति॥४५॥

अर्थ—कर्मसंन्यासी कैवल्यपद को पाता है, कर्मयोगी भी पाता है। कर्मसंन्यास, कर्मयोग दोनों को जो एक देखता है वही मानो देखता है॥

संन्यासमाश्रयति यो हि विनैव कर्म-
योगं स चेह लभते खलु दुःखमेव ।

यः कर्मयोगमनुतिष्ठति वा मुनिः सन्
स ब्रह्म विन्दति परं न चिरेण मर्त्यः ॥२६॥

अर्थ—जो विना कर्मयोग के सन्यास का आश्रय करता है वह पुरुष यहां दुःख ही को प्राप्त होता है। और जो मुनि (मननशील) होकर कर्मयोग का अनुष्ठान करता है वह मनुष्य थोड़े ही काल में परब्रह्म को प्राप्त होता है॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां दशमः सर्गः॥१०॥



परशुराम उवाच—

राजर्षे जनकेदं मे संशयं छिन्धि योगयुक्।
कुर्वन्नपीह कर्माणि कर्मभिर्बध्यते न किम् ॥१॥

अर्थ—परशुरामजी जनक राजा से पूछते हैं कि हे राजर्षि जनक! तुम मेरे सन्देह को मिटाओ। योगी लोग इह लोक में कर्म करते रहते भी कर्म से बद्ध क्यों नहीं होते॥

जनक उवाच।

योगाभ्यासरतो मर्त्यो वशीकृत्येन्द्रियाणि च।
मनसा शुद्धबुद्धिर्य ईश्वरं सर्वभूतगम् ॥२॥
ज्ञात्वा करोति कर्माणि कर्मभिर्न स बध्यते।

योगयुक्तो विवेकी तु नरो व्यापारमिन्द्रियैः ॥३॥
कुरुते यद्यपि तथाप्यात्मानं मन्यते न हि ।
कर्तारं नापि कर्तृत्वाभिनिवेशं तथात्मनि ॥४॥
जिघ्रन्नश्नंश्च पश्यंश्च स्पृशन् शृण्वन् स्वपंश्चलन् ।
श्वसन्नपि फलैर्नासौ कर्मणां विनिबध्यते ॥५॥
ग्रहणं त्यागमुच्चारमिन्द्रियाणि निजां क्रियाम् ।
कर्माख्याप्राणसंकोचविकासादिं प्रकुर्वते ॥६॥

अर्थ—जनक राजा परशुरामजी से कहते हैं कि हे परशुरामजी ! जो पुरुष योगाभ्यासयुक्त हो वह मन से इन्द्रियों को वश करके शुद्धबुद्धि हो ईश्वर को सब प्राणियों में व्याप्त जान कर कर्म करता है वह कर्मों से बद्ध नहीं होता । योग युक्त विवेकी पुरुष यद्यपि इन्द्रियों से व्यापार करता है तथापि अपने को कर्ता नहीं मानता और अपने में कर्तृत्व का घमण्ड भी नहीं रखता सूंघता हुआ, खाता हुआ, देखता हुआ, छूता हुआ, सुनता हुआ, सोता हुआ, चलता हुआ, श्वास लेता हुआ भी वह पुरुष कर्मों के फलों से बद्ध नहीं होता । ग्रहण, त्याग उच्चार, कर्माख्या और प्राण वायु के संकोच विकास आदि अपने २ व्यापार को इन्द्रिय करते हैं ॥

समर्प्य सर्वकर्माणि पुरुषः परमेश्वरे ।
करोति कर्म सततं हीनः कर्मफलाशया ॥७॥
अम्भस्यब्जच्छदइव न स पापैर्विलिप्यते ।
बुद्धीन्द्रियमनःकायैः कर्म कुर्वन्ति योगिनः ॥८॥

त्यक्त्वा कर्मफलापेक्षां केवलं चित्तशुद्धये ।
त्यक्त्वा कर्मफलेच्छां य ईश्वराराधने रतः ॥९॥
युक्तः करोति कर्माणि शान्तिमाप्नोत्यतश्च सः ।
अयुक्तस्तु फले सक्तः कामाचारान्निबध्यते ॥१०॥

अर्थ—जो पुरुष संपूर्ण कर्मों को परमेश्वर में अर्पण करके कर्मफल की आशा से रहित होकर सर्वदा कर्म करता है वह पापों से लिप्त नहीं होता, जैसे जल में कमल का पत्ता रहता है परन्तु उससे लिप्त नहीं होता। योगी लोग कर्म के फल की अपेक्षा को छोड़ कर बुद्धि, इन्द्रिय, मन और शरीर से केवल चित्त शुद्धि के अर्थ कर्म करते हैं। जो पुरुष कर्मफल की इच्छा को छोड़ परमेश्वर की आराधना में तत्पर होके स्वस्थचित्त (युक्त) होकर कर्म करता है वह इसी से शान्ति को प्राप्त होता है। और जो (अयुक्त) अस्वस्थचित है वह फल में आसक्त होकर कामाचार (मनमाने आचरण) से बद्ध होता है ॥

देही पुरे नवद्वारे न कुर्वन्नापि कारयन् ।
हृदा सन्त्यज्य कर्माणि स्वस्थ आस्ते सुखी नरः ॥११॥
कर्तव्यं जगतः कर्म सर्वव्यापीश्वरो न हि ।
सृजत्यपि नियुङ्क्ते न न कर्मफलयोजनाम् ॥१२॥
क्वचित् कस्यापि कुरुते स्वभावात्तु प्रवर्तते ।
अनाद्यविद्यासंबन्धान्नरः कामवशानुगः ॥१३॥

अर्थ—शरीरधारी पुरुष (नेत्र आदि) नौ द्वारवाले

नगर में न कुछ करता है और न कुछ कराता है। वह सब कर्मों को मन से त्याग करके स्वस्थ होकर सुखी होता है। सर्व व्यापी ईश्वर जगत् का कर्तव्य कर्म आप नहीं सृजता न किसी को कर्म करने में नियुक्त करता है और न कहीं किसी के कर्म फल को जोड़ता है। मनुष्य काम के वश होकर अनादि अविद्या के संबन्ध से कर्म करने में स्वभाव से प्रवृत्त होता है॥

प्रभुर्नाघं न सुकृतमादत्तेऽण्वपि कस्यचित् ।
ज्ञानमावृतमज्ञानान्मुह्यन्ति प्राणिनस्ततः ॥१४॥
ज्ञानप्रकाशादज्ञानं येषां नष्टं प्रकाशयेत् ।
तज्ज्ञानमीश्वरं सूर्यो वस्तुनीव तमोपहा ॥१५॥

अर्थ—परमेश्वर किसी के पाप या पुण्य को थोड़ा भी नहीं लेता है। अज्ञान से ज्ञान घिरा हुआ है। इससे जीव आपही मोह को प्राप्त होता है। जिनका अज्ञान ज्ञान के प्रकाश से नष्ट हुआ उनका वह ज्ञान परमेश्वर को भी दिखाता है, जैसा अन्धकार मिटाने वाला सूर्य सब वस्तुओं को प्रकाशित करता है॥

येषां बुद्धिर्मनो निष्ठा प्रभौ तत्स्थानमीश्वरः ।
स ज्ञानशुद्धो ब्रह्मेति पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥१६॥
वेत्तीशं सर्वगं ज्ञो यः समदृक् तस्य नो भिदा ।
विद्याविनययुग्विप्रे श्वपाकेभश्वगोषु च ॥१७॥

अर्थ—जिनकी बुद्धि मन और निष्ठा (श्रद्धा) परमेश्वर ही में है उनका स्थान परमेश्वर ही है वह ज्ञान से निर्मल हो

जहां से फिर नहीं पलटे उस ब्रह्म को प्राप्त होता है जो बुद्धिमान् परमेश्वर को सर्वव्यापी जानता है और जिसकी सर्वत्र दृष्टि है उसको विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, चण्डाल में, हाथी में, कुत्ते में और गौ में भेद नहीं रहता ॥

मानसे समता येषां संसार इह तैर्जितः ।
ते निर्दोषं समं ब्रह्म मत्वा तद्भावमाप्नुयुः ॥१८॥
नो मोदते प्रियं प्राप्य योऽप्रियान्न विषीदति ।
असुग्धो निश्चलो बुध्या ब्रह्मस्थो ब्रह्मविच्च सः ॥१९॥

अर्थ—जिनके मन में समता है उन्होंने इहलोक में संसार को जीत लिया है वे लोग ब्रह्म को सम और निर्दोष मान कर ब्रह्म भाव को प्राप्त होते हैं। जो लोग प्रिय वस्तु पाकर हर्षित नहीं होते हैं और अप्रिय वस्तु से जिनको खेद नहीं होता वे लोग बुद्धि से निश्चल और मोहरहित होने से ब्रह्म को जानते हैं और ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं ॥

असक्तचित्तः पुरुषो वाह्येषु विषयादिषु ।
यत्सुखं स्वेऽनुभवति समाधिस्थोऽक्षयं सुखम् ॥२०॥
प्राप्नोति तत् पर्शुराम भोगा इन्द्रियवृत्तिजाः ।
ते दुःखहेतवोऽनित्या विवेकी नात्र सज्जते ॥२१॥

अर्थ—वाह्य विषयादिक में असक्तचित्त पुरुष जो आत्मा में सुख का अनुभव करता है समाधिस्थ पुरुष उसी सुख को अक्षय पाता है। हे परशुरामजी ! इन्द्रियों के वृत्तियों से

उत्पन्न जो भोग हैं वे दुःख के कारण हैं और उत्पत्ति विनाश-वान् हैं। इसलिये विवेकी पुरुष उनमें आसक्त नहीं होता॥

कामक्रोधजहृद्वेगं देहोत्सर्गात् पुरेह यः।
सोढुं शक्नोति स सुखी योगयुक्तो हि मानवः॥२२॥

अर्थ—काम और क्रोध से उत्पन्न मन के वेग को जो शरीर छूटने से पहिले यहां सहन करता है वह योगयुक्त पुरुष निश्चय से सुखी है॥

समाधिस्थो हृदि सुखी क्रीड़ते यः प्रकाशते।
ब्रह्मभावं स सम्प्राप्य नरो मोक्षमवाप्नुयात्॥२३॥
ब्रह्मनिर्वाणमाप्ता ये निष्पापा ऋषयो वशी।
यन्मनस्ते भेदबुध्या हीनाः प्राणिहिते रताः॥२४॥
ये कामक्रोधरहिता यतयो यतमानसाः।
विदुर्यथार्थं ते ब्रह्म ब्रह्मभावोऽभितो यतः॥२५॥

अर्थ—जो समाधि स्थित पुरुष मन में (अन्तःकरण में) सुखी रहता है, मन ही में क्रीड़ा करता है और मन ही में प्रकाशित रहता है यह पुरुष ब्रह्म भाव को पाके मोक्ष को प्राप्त होता है। जो ऋषि लोग ब्रह्म भाव को प्राप्त हुए हैं और पाप रहित हैं जिनका मन भेद बुद्धि से रहित अपने वश में होता है वे सब प्राणियों के हित को करते रहते हैं। जो यती लोग काम क्रोध से रहित हैं और जिनका मन संयत है वे परमेश्वर को यथार्थ रूप से जानते हैं क्योंकि ब्रह्मभाव उनके सामने है॥

दृष्टिंभ्रूमध्यगां कृत्वा बाह्यांश्च विषयान् बहिः ।
प्राणापानौ कुम्भकेन नासान्तश्चारिणौ समौ ॥२६॥
संयम्य धीन्द्रियस्वान्तानीच्छाभीक्रोधवर्जितः ।
मौनमास्ते मुमुक्षुर्यो मुक्त एव स सर्वदा ॥२७॥

अर्थ—दृष्टि को भृकुटी के बीच में करके बाह्य विषयों को बाहर करके और नासिका के भीतर फिरने वाले प्राण अपान दोनों वायु को कुम्भक प्राणायाम से समतोल करके जो मुमुक्षु बुद्धि इन्द्रिय और मन को संयत करके इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर मौन धारण करता है वह सदा मुक्त ही है ॥

यज्ञतपोऽनुभवं कुरुते यो
योऽखिललोकमहेश्वरवित्तः ।
योऽखिलभूतसुहृत् परमात्मा
वेद तमेप हि शान्ति मुपैति ॥२८॥

अर्थ—जो यज्ञ और तप का अनुभव करता है जो संपूर्ण जगत में महेश्वर कहाता है और जो संपूर्ण प्राणियों का मित्र परमात्मा है उसको जो मानता है वह शान्ति को प्राप्त होता है ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां एकादशः सर्गः ॥११॥



जनकउवाच—

स एव योगी सन्यासी त्यक्त्वा कर्मफलस्पृहाम् ।
करोति विहितं कर्माग्निहोत्री न नाक्रियः ॥१॥

अर्थ—जनक राजा परशुरामजी से कहते हैं कि जो कर्मों के फलों की इच्छा को छोड़कर वेदविहित कर्म करता है वही योगी (कर्मकर्ता) और वही संन्यासी (कर्म त्यागी) है। अग्निहोत्रादि कर्म नहीं करनेवाला योगी (कर्मकर्ता) नहीं हो सकता और कर्मरहित मनुष्य संन्यासी नहीं हो सकता॥

यः सन्यासः स वै योगः पर्शुराम निगद्यते ।
मनःसंकल्पमत्यक्त्वा न योगी कोऽपि जायते॥२॥

अर्थ—हे परशुरामजी! जो संन्यास है उसी को योग कहते हैं। क्योंकि मन के संकल्प को त्याग किये बिना कोई योगी नहीं हो सकता॥

आरुरुक्षोर्ज्ञानयोगं हृच्छुद्ध्या कर्म कारणम् ।
समाधिस्थस्य तुहेतुरिन्द्रियाणां विनिग्रहः ॥३॥

अर्थ—ज्ञान योग में आरूढ होने की इच्छा करने वाले पुरुष को अन्तःकरणशुद्धि के द्वारा कर्म कारण है और समाधिस्थ (योगारूढ) पुरुष को इन्द्रियों का निग्रह कारण होता है॥

यस्य प्रीतिर्न भोगेषु न तत्साधनकर्मसु ।
सर्वसंकल्पसन्यासात् स योगारूढ उच्यते ॥४॥

अर्थ—जिस पुरुष को न भोगों में और न भोग के साधन कर्मों में प्रीति है वह मन के सब संकल्प छोड़ने से योगारूढ़ (योग में आरूढ़) कहाता है ॥

स्वयं विवेकेनात्मानं संसारादुद्धरेद्बुधः ।
नाधो नयेत्स्वस्य बन्धुः शत्रुरात्मैव केवलम् ॥५॥
विवेकाद् दृढशे यस्य बन्धुस्तदुपकारकः ।
आत्मैवारिश्चापकारी भवति ह्यविवेकिनः ॥६॥

अर्थ—विवेक ज्ञान से आपही आत्मा का संसार से उद्धार करे अधो गति में न डाले क्योंकि आत्मा का शत्रु और मित्र केवल आपही है। विवेक ज्ञान से मन जिसके वश में है उसका उपकार करने वाला बान्धव आत्मा ही है और अविवेकी का अपकार करने वाला शत्रु भी आत्मा ही है ॥

शीतोष्णे सुखदुःखे च समो मानापमानयोः ।
शान्तधीर्यतचितोऽस्य परेशः स्यात् समाहितः॥७॥

अर्थ—शीत उष्ण, सुख दुःख और मान अपमान को जो समान मानता है, शान्त बुद्धि वाला अर्थात् राग द्वेष रहित है, और मन जिसके स्वाधीन है परमेश्वर उसके समाधि में स्थित है।

निराकाङ्क्षमना ज्ञानविज्ञाने यो जितेन्द्रियः ।
निर्विकारः समस्वर्णाश्मलोष्टो युक्त उच्यते ॥८॥

अर्थ—ज्ञान (तत्व ज्ञान) विज्ञान (शास्त्रीयज्ञान) से जिसका मन इच्छारहित जितेन्द्रिय है, विकाररहित है और

जो सोना पत्थर और मिट्टी के ढेले को समान मानता है वह युक्त (योगप्राप्त) कहाता है ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
पापेषु साधुषु समबुद्धिर्यः स विशिष्यते ॥९॥

अर्थ—जो पुरुष बान्धव उदासीन (न शत्रु न मित्र) मध्यस्थ (न्यायकर्ता) सुहृत् (अच्छे मन वाला), द्विट् (द्वेष करने वाला मित्र और शत्रुओं में तथा पापी और सज्जनों में समान बुद्धि रखने वाला है वह युक्त से भी बढ़ कर है ॥

यतकायमना योगी निरिच्छो निष्परिग्रहः ।
रहस्यात्मानमेकाकी स्थितो युञ्जीत सन्ततम् ॥१०॥
शुद्धभूमौ च नात्युच्चनीचे दर्भाजिनाम्बरैः ।
उपर्युपरि संस्थाप्यमात्मनः स्थिरमासनम् ॥११॥
इन्द्रियाणां क्रियाश्चित्तं संयम्यैकाग्रमानसः ।
मनःस्थैर्याय युञ्जीत योगमासीन आसने ॥१२॥
सममङ्गशिरःकण्ठं निश्चलं धारयन् दिशः ।
अपश्यन्निजनासाग्रदृष्टिः स्यात् स्थिर आसने॥१३॥
ब्रह्मचर्यव्रतस्थः सन् भयेन रहितः पुमान् ।
प्रशान्तचेताः सततं प्रणवं संस्मरेज्जयेत् ॥१४॥
अनेनैव प्रकारेण योगरूढस्तु पूरुषः ।
मोक्षं प्राप्नोत्यतः श्रेयान् नोपायो विद्यते परः ॥१५॥

अर्थ—योगारूढ़ पुरुष शरीर और मन को स्वाधीन कर इच्छा और परिग्रह (सामग्री संग्रह) छोड़ एकान्त में (अकेला) बैठ कर सर्वदा आत्मयोग का अभ्यास करे। पवित्र भूमि पर न बहुत ऊंचे न बहुत नीचे सब से नीचे कुशासन उसके ऊपर मृगचर्म आदि उसके ऊपर वस्त्र का आसन हो ऐसा अपना आसन स्थिर करके रक्खे। इन्द्रियों के व्यापारों को रोक कर मन को वश में कर एकाग्रचित होके उक्त आसन पर बैठ के मन स्थिर होने के लिये योग का अभ्यास करे। शरीर सिर और कण्ठ को समान (सीधा) और निश्चल रख कर इधर उधर न देखते, अपने नासिका के अग्र भाग पर (भृकुटी के बीच) दृष्टि रख कर आसन पर स्थिर होवे। ब्रह्मचर्यव्रत में रह कर पुरुष निर्भय होकर शान्त चित्त होकर सर्वदा प्रणव (ॐ) का स्मरण और जप करे। इसी प्रकार से योगारूढ़ पुरुष मुक्ति को पाता है। इससे दूसरा श्रेष्ठ उपाय नहीं है॥

आस्ते ह्यनश्नन्नत्यश्नन् सदा जाग्रन्नतिस्वपन् ।
एवंविधो नरो नैव समर्थो योगसाधने ॥१६॥
कर्मचेष्टा जागरणं निद्राहारो विहारयुक् ।
नियता यस्य योगोऽस्य भवेत् संसारदुःखहा ॥१७॥
यस्यावतिष्ठते चित्तं सदा संयतमात्मनि ।
सर्वभोगस्पृहाहीनं स युक्त इति कथ्यते ॥१८॥

अर्थ—जो बिना भोजन के ही रहता है, जो अति भोजन करता है, जो सदा जागता है, अथवा अति सोता है, ऐसा

मनुष्य योगसाधन में समर्थ नहीं है। कर्मों में चेष्टा, जागरण, निद्रा, आहार और विहार ये जिसके नियम से होते हैं उसको योगसाधन संसाररूपी दुःख का नाश करने वाला होता है। जिसका मन वश में होकर सदा आत्मा में स्थिर रहता है और संपूर्ण भोग की इच्छा से रहित होता है वह युक्त (योगप्राप्त) कहाता है॥

अचञ्चलो यथा दीपो निर्वातस्थानगस्तथा।
आत्मयोगं तु युञ्जानो योगी यतमना भवेत् ॥१९॥

अर्थ—जैसे निर्वात स्थान में रक्खा हुआ दीप चंचल नहीं होता (इधर उधर नहीं हुलता) वैसे आत्मयोग का साधने वाला योगी मन को स्थिर करे॥

योगाभ्यासेन रुद्धं सद्रमते यत्र मानसम्।
प्रसीदत्यात्मनि धिया पश्यन्नात्मानमग्रया ॥२०॥
अतीन्द्रियं धिया ज्ञेयं तदत्यतिशयं सुखम्।
यत्र स्थितोऽनुभवति च्यवते नात्मतत्वतः ॥२१॥
कञ्चिदप्यपरं लाभं नाधिकं मन्यते यतः।
महता दुःखभारेणापि यत्रस्थो न खिद्यति ॥२२॥
योगं जानीहि तं ब्रह्मन् दुःखात्यन्तवियोजकम्।
इन्द्रियार्थविरक्तेन सोऽभ्यस्यः किल चेतसा ॥२३॥

अर्थ—योगाभ्यास से रुका हुआ मन जहां रमता है, तीक्ष्ण बुद्धि से आत्मा को देखकर अपने में प्रसन्न होता है,

जो इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं, केवल बुद्धि के जानने योग्य है, ऐसे बढ़केसे बढ़ के सुख का जहां रह कर अनुभव करता है, और आत्मतत्व से च्युत नहीं होता, कोई भी दूसरे लाभ को उससे बढ़ कर नहीं मानता है, जहां रह कर बड़े दुःख के बोझ से भी खेद नहीं पाता, हे परशुरामजी। उस योग को दुःख से अत्यन्त अलग करनेवाला जानो। उस योग का अभ्यास विषयों से विरक्त हुए मन के द्वारा करना॥

त्यक्त्वा संकल्पजान् कामान् सर्वाननवशेष्य हि।
परितो मनसा सर्वेन्द्रियवृन्दं नियम्य च ॥२४॥
धारणासंयतधिया भवेच्छान्तः शनैःशनैः।
वाह्यार्थेभ्यः पृथग् योगं स्वस्थः स्थिरहृदाभ्यसेत् ।२५।

अर्थ—संकल्प से उत्पन्न सब कामों को निःशेष त्याग करके और चारो ओर से सब इन्द्रियों के समूह को मनसे रोक कर धारणा से बुद्धि को रोक कर वाह्यविषयों से अलग होकर स्वस्थ होके स्थिर मन से योग का अभ्यास करे और धीरे २ शान्त होवे॥

मनो यतोयतोयाति चञ्चलत्वाद्यदस्थिरम्।
आत्मन्येव वशीकुर्यात्तं निगृह्य ततस्ततः ॥२६॥
एवं शान्तमना योगी लभतेऽनुत्तमं सुखम्।
ऐनोहानिं शान्तरजा ब्रह्मभूतः स्वयं यतः ॥२७॥
योगी मनो नियुञ्जानो गतैना एवमन्वहम्।
जीवन्मुक्तिमनायासाद् ब्रह्मसंबन्धतोऽश्नुते ॥२८॥

अर्थ—मन जो चंचल होने से स्थिर नहीं है वह विषयों से अनुरक्त हो जहां २ जाता है उसको वहां से रोककर आत्मा ही में वश कर रक्खें। इस प्रकार से शान्त चित्त हुआ योगी उत्तमोत्तम सुख को पाता है। क्योंकि वह स्वयं, पाप और रजो गुण से रहित ब्रह्म रूप हो जाता है। ऐसे पाप रहित योगी सदा मन को नियोग करता हुआ ब्रह्म के सम्बन्ध से अनायास से जीवन्मुक्ति को प्राप्त होता है॥

समदृष्टि योंगयुक्तमनाः सर्वत्र पश्यति ।
आत्मन्यखिलभूतानि चात्मानं सर्वभूतगम् ॥२९॥
सर्वत्र परमात्मानं तस्मिन्सर्वं जगच्च यः ।
ईक्षते परमात्मास्य न दूरे सुखभाक् च सः ॥३०॥

अर्थ—समदर्शी योग में मन को नियुक्त करके सर्वत्र, आत्मा में सब प्राणियों को और आत्मा को सब प्राणियों में व्याप्त देखता है। जो योगी सर्वत्र परमात्मा को और परमात्मा में सब जगत् को देखता है, परमात्मा इससे दूर नहीं है और वह योगी उत्तम सुख को पाता भी है॥

यः सर्वव्यापिनं ब्रह्म वेत्त्येकं कथमप्यसौ ।
वर्तमानोऽपि च ज्ञानी भूत्वा ब्रह्मण्यवाप्नुयात् ॥३१॥
यः सर्वप्राणिनां दुःखसुखेष्वात्मवदीक्षते ।
सर्वत्र पर्शुरामासौ योगिनां परमोत्तमः ॥३२॥

अर्थ—जो सर्व व्यापी एकही ब्रह्म को जानता है वह किसी प्रकार से रहे तो भी ज्ञानी होकर ब्रह्म में प्राप्त होता है।

जो सम्पूर्ण प्राणियों के सुख दुःख के समान सर्वत्र देखता है, हे परशुराम जी वह योगियों में परमोत्तम है॥

इत्थं परशुरामोऽथ श्रुत्वा जनकमब्रवीत्।
राजन् योऽयं मनःस्थैर्यहेतवे योग ईरितः ॥३३॥
त्वयास्य चिररात्राय नेक्षे पश्यन् स्थिरां स्थितिम्।
मनसस्तरलत्वेनास्थिरत्वाच्च स्वभावतः ॥३४॥
मनस्तु चंचलं देहेन्द्रियप्रमथनं बलि।
दुर्भेद्यं चापि विषयवासनास्वनुरागतः ॥३५॥
तन्निग्रहोऽतिकठिनो यदजेयं स्वभावतः।
वायुः सर्वत्र खव्याप्तो यथा रोद्धुं न शक्यते ॥३६॥

अर्थ—अनन्तर परशुराम जी ऐसा वचन सुन कर जनक राजा से बोले कि हे राजन्! जो यह योग मन स्थिर होने के लिये आपने कहा देखते हुए भी इसकी बहुत काल तक स्थिर स्थिति नहीं देखता क्योंकि मन स्वभाव से चंचल और अस्थिर है। मन तो चंचल देह और इन्द्रियों को मथनेवाला बलवान् है और विषय की वासनाओं में अनुराग रहने से दुर्भेद्य (दृढ़) भी है। इसलिये स्वभावतः जो जीतने योग्य नहीं उसका निग्रह करना बहुत कठिन है जैसे आकाश में सर्व व्याप्त वायु को रोक नहीं सकते॥

जनकोऽथाब्रवीत्परशुराम सत्यं ब्रवीपि यत्।
संशयो नास्ति मनसश्चंचलत्वेऽस्य निग्रहः ॥३७॥

कर्तुं शक्यो न केनापि ब्रह्मण्यभ्यासयोगतः ।
वैराग्येण मनोवृत्तिविषयाणां च गृह्यते ॥ ३८॥
निश्चिनोमीह दुष्प्रापो योगस्त्वस्थिरचेतसा ।
शक्योत्युपायतोऽवाप्तुं यत्नवान्न वश्यमानसः ॥३९॥

अर्थ—इस पीछे जनकजी बोले कि हे परशुराम जी! सत्य कहते हो। मन के चंचलपने में सन्देह नहीं है और इसका निग्रह किसी से हो नहीं सकता। एक ब्रह्म में तदाकार अभ्यास करने से और मन की वृत्ति और विषयों के वैराग्य से मन का निग्रह होता है। जिसका मन स्थिर नहीं उसको योगसिद्धि नहीं हो सकती ऐसा निश्चय करता हूं। परन्तु मन जिसके वश में है वह यत्न करे तो उपाय से योग सिद्ध हो सकता है॥

परशुराम उवाच—

योगप्रवृतः श्रद्धावानप्रयत्नात्तु योगतः ।
चलचेता योगसिद्धिमप्राप्तो याति कां गतिम् ॥४०॥
ब्रह्मप्राप्तिपथोपाये मूढः स्थैर्यमलब्धवान् ।
कच्चिच्छिन्नाभ्रवन्नश्येद्भ्रष्टो योगक्रियाध्वनोः ॥४१॥
इमं मे संशयं दूरीकर्तुं योग्यस्त्वमेव हि ।
त्वदृते नास्ति कोऽप्यस्य संदेहस्य निवर्त्तकः ॥४२॥

अर्थ—परशुरामजी बोले कि हे जनकजी जो पुरुष श्रद्धावान् होकर योग मार्ग में प्रवृत्त हो परन्तु प्रयत्न न करने से योग से मन चलित हो योगसिद्धि को प्राप्त न हुआ वह कौन सी

गति को प्राप्त होगा। ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग के उपाय में मोहित होकर स्थिरता को न पाकर योगमार्ग और कर्ममार्ग दोनों से भ्रष्ट होकर क्या वायु से बिखरे हुए मेघ के समान नष्ट होजाता है? इस मेरे संदेह को दूर करने के योग्य आपही हैं। आपके बिना कोई भी इस संदेह का मिटाने वाला नहीं है॥

जनक उवाच—

कर्मभूमाविह भ्रष्टयोगस्यैनो न नारकः।
परलोके न सत्कर्मा दुर्गतिं याति नो यतः॥४३॥

अर्थ—जनकजी बोले कि हे परशुरामजी योग भ्रष्ट पुरुष को इस कर्मभूमि में न पाप है और न परलोक में नरक है क्योंकि उत्तम कर्म करने वाला दुर्गति को नहीं प्राप्त होता॥

यत्राश्वमेधादिकृतो यान्ति तत्र चिरं वसन्।
योगभ्रष्टः सदाचारिधनिनां जायते कुले॥४४॥
अल्पाभ्यासी चिराभ्यासी त्वेवमुत्पद्यते कुले।
योगिना मेव जन्मेदृगिह मन्येऽतिदुर्लभम्॥४५॥
तत्र प्राग्जन्मदेहस्य संबन्धाद्युज्यते धिया।
तथैव च ततो भूयो यततेऽधिकसिद्धये॥४६॥
प्रागभ्यासेन तेनैवावशो योगे स्थिरो भवेत्।
शब्दब्रह्माखिलं वेद योगं जिज्ञासतेऽपि यः॥४७॥

अर्थ—थोड़े काल अभ्यास करने वाला योग भ्रष्ट पुरुष जहां अश्वमेध आदि यज्ञ करने वाले जाते हैं वहां बहुत काल

तक वास करके उत्तम आचार वाले धनवानों के कुल में उत्पन्न होता है। बहुत काल का अभ्यासी तो ऐसे ही योगियों के ही कुल में उत्पन्न होता है। इस लोक में ऐसा जन्म मैं बहुत दुर्लभ मानता हूं। वहां पूर्वजन्म के देह के संबन्ध से उसी योगबुद्धि से युक्त होता है पीछे फिर अधिक सिद्धि पाने के लिये यत्न करता है। फिर उसी पहिले किये हुए अभ्यास के विवश होकर योग में स्थिर होजाता है। जो पुरुष योग को जानने भी चाहता है वह संपूर्ण शब्द ब्रह्म (वेद) को जान लेता है॥

यतमानोऽधिकं योगे निष्पापो ऽनेकजन्मनाम्।
योगाभ्यासाल्लब्धसिद्धिर्ज्ञानी सन्मोक्षमाप्नुयात् ४८
कृच्छ्रादितपसां कर्तुरिष्टापूर्तादिकर्मणाम्।
ज्ञानिनोऽप्यधिको योगी मुनेऽतो योगमभ्यस ।४९।

अर्थ—योगाभ्यास में अधिक यत्न करनेवाला पुरुष पाप रहित होकर अनेक जन्मों के योगाभ्यास से सिद्धि पाकर ज्ञानी होकर मोक्ष को पाता है कृच्छ्र चान्द्रायणादि तप करने वाले इष्टापूर्त (मन्दिर तलाव बनाना) आदि कर्मों के करने वाले और ज्ञानियों (सामान्य ज्ञानियों) से भी योगी बढ़कर है। हे परशुराम जी इसलिये योग का अभ्यास करो॥

यो मनो निधाय सुस्थिरं परे
ब्रह्मणि स्वयं तु संयतः पुनः।
अहयोमिति स्म सन्ततं जपन्
श्रेष्ठ एव योगिनां मतो मम ॥५०॥

अर्थ—जो परब्रह्म में मन स्थिर रख के फिर स्वयं भी संयत होकर श्रद्धा से ॐ ऐसा सर्वदा जपता हो उसे मैं योगियों में श्रेष्ठ मानता हूं ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां द्वादशः सर्गः ॥१२॥



जनक उवाच—

परमात्माश्रयो योगं तदासक्तहृदाभ्यसन् ।
सर्वैश्वर्ययुतं तं चासंशयं वेत्ति तच्छृणु ॥१॥

अर्थ—जनकजी परशुरामजी से कहते हैं कि हे ऋषे परमात्मा के आश्रय होकर उसी में मन लगा कर जो पुरुष योगाभ्यास करता हो वह विना सन्देह के सम्पूर्ण ऐश्वर्य सहित उस परमात्मा को जानता है, वह सुनो ॥

वक्ष्याम्यशेषतो ज्ञानं विज्ञानं ते शुभे पथि ।
ज्ञात्वेह यत् पुनश्चान्यज्ज्ञातव्यं नावशिष्यते ॥२॥
सिद्धै सहस्रनृष्वेको यतते॑ऽधिकपुण्यवान् ।
यतमानशतेष्वेको वेत्ति तत्त्वत ईश्वरम् ॥३॥

अर्थ—मैं तुम्हें ज्ञान और विज्ञान (शास्त्र ज्ञान) संपूर्ण कहता हूं जो इहलोक में जान कर फिर शुभ मार्ग में और

जानना शेष नहीं रहता। हजारों में एक मनुष्य सिद्धि के लिये यत्न करता है। और सैकड़ों यत्न करनेवालों में एक पुरुष यथार्थ रीति से परमात्मा को जानता है॥

भूरापोऽग्निः समीरः खं मनो बुद्धिरहंकृतिः।
अपराख्याऽष्टधा भिन्ना प्रकृतिः परमात्मनः ॥४॥
इतोऽन्यां प्रकृतिं विद्धि जीवभूतां सुचेतनाम्।
ब्रह्मन् परेतिविख्यातां येदं धारयते जगत् ॥५॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकारों से अलग २ अपरा (जड़) नाम की प्रकृति परमेश्वर की है। इससे अन्य जीवरूप सुचेतन (ज्ञानयुक्त) परा (चेतन) नाम की प्रकृति को हे परशुरामजी! जानो जो इस संपूर्ण जगत् को धारण करती है॥

द्विधाप्रकृतिजान् सर्वान् विद्धि स्थावरजङ्गमान्।
भूतांश्च सर्वजगतः सृष्टिप्रलयकृद्विभुः ॥६॥
श्रेष्ठं परशुरामान्यन्न किंचित् परमात्मनः।
तस्मिन् प्रोतं मणिगणा इव सूत्रेऽखिलं जगत् ॥७

अर्थ—सब स्थावर जंगम भूतों को परा और अपरा दो प्रकार की प्रकृति से उत्पन्न जानो। और संपूर्ण जगत् की सृष्टि और प्रलय का कर्ता परमेश्वर है यह भी जानो। हे परशुरामजी! परमात्मा से अन्य और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है। उस परमात्मा में सब जगत् पिरोया हुआ है जैसे सूत में बहुत से मणि पिरोये जाते हैं॥

परमात्मा सुगन्धः कावग्नौ तेजो जले रसः ।
चन्द्रर्कयोः प्रभा शब्द आकाशे नृषु पौरुषम् ॥८॥
ॐकारोऽखिलवेदेषु सर्वभूतेषु जीवनम् ।
तपस्विषु तपश्चास्ति विद्धीत्थं पर्शुराम तम् ॥९॥
स चराचरभूतानामादिहेतुः सनातनः ।
यस्तु तेजस्विना तेजो धीमता बुद्धिरुच्यते ॥१०॥
कामरागादिरहितं बलं च बलिनां तु सः ।
कामः परात्मा भूतेषु धर्मं न विरुणद्धि यः ॥११॥

अर्थ—पृथ्वी में सुगन्ध है सो परमात्माही है । ऐसेही अग्नि में तेज, जल में रस, चन्द्र सूर्य में प्रभा (कान्ति), आकाश में शब्द, मनुष्यों में पराक्रम, संपूर्ण वेदों में ॐ कार, संपूर्ण प्राणियों में जीवन, तपस्वियों में तप, वही परमात्मा है, हे परशुरामजी ! ऐसा जानो । वह सदा रहने वाला चर अचर जगत् का आदि कारण है जो परमात्मा तेजस्वी पुरुषों में तेज है, बुद्धि मानों में बुद्धि है, बलवानों में कामरागादि रहित बल है, और वही परमात्मा प्राणियों में काम, जो धर्म का विरोधी न हो, उसका स्वरूप है ॥

सात्विका दमशान्त्याद्या उत्पन्नाः परमात्मनः ।
भावा हर्षविषादाद्या राजसास्तामसा अपि ॥१२॥
शोकमोहादयः सर्वे सन्ति ते परमात्मनि ।
परमात्मा न तेष्वस्ति ब्रह्मन् जानीहि तत्त्वतः ॥१३॥

अर्थ—सात्विक दम, शम आदि राजस हर्ष, विषाद और तामस शोक, मोह आदि सभी भाव परमात्मा से उत्पन्न हैं वे सब परमात्मा में हैं परमात्मा उनमें नहीं है हे परशुराम जी यह यथार्थ जानो॥

सात्विकाद्यैर्गुणमयैस्त्रिभिर्भावैरिदं जगत्।
मोहितं वेत्ति नो तेभ्यः परमव्ययमीश्वरम् ॥१४॥
दैवी दुरत्ययेशस्य मायैषा त्रिगुणात्मिका।
य ईशं शरणं यान्ति त एवास्यास्तरन्त्यपि ॥१५॥

अर्थ—सात्विक आदि तीन गुणमय भावों से यह जगत् मोह को प्राप्त है सो उन भावों से परे जो विकार रहित परमात्मा है उसे जगत् नहीं जानता। यह त्रिगुणात्मक परमेश्वर की माया दैवी है दुरत्यय (जिसका नाश करना कठिन है) है। परमात्मा के शरण जाते हैं वे इससे भी तर जाते हैं॥

ईश्वरं न प्रपद्यन्ते मूढाः पापा नराधमाः।
नारका आसुरं भावं मायाहृतधियः श्रिताः ॥१६॥

अर्थ—मोह को प्राप्त हुए पापी, अधम नर, परमात्मा के शरण में नहीं जाते क्योंकि माया से जिनका ज्ञान नष्ट हुआ है ये असुर भाव को आश्रय करके नरक में जाते हैं॥

ज्ञान्यर्थार्थी च जिज्ञासुरार्त एवं चतुर्विधाः।
भजन्ते परमात्मानं ब्रह्मन् सुकृतिनो जनाः ॥१७॥
तेष्वेकभक्तिः सततयुक्तो ज्ञानी विशिष्यते।
ईश्वरो ज्ञानिनःश्रेयान् ज्ञानीशस्य भृशं प्रियः॥१८॥

उदारा एव चत्वारो ज्ञानीशात्मैकभावनः ।
श्रेष्ठोऽयमेव युक्तात्माऽऽस्थितो गतिमनुत्तमाम्॥१९॥
ज्ञानी च परमात्मानमाप्नोति बहुजन्मभिः ।
सर्वं जगत् परात्मै वेतिज्ञानी दुर्लभो भुवि ॥२०॥

अर्थ—ज्ञानी (तत्त्वज्ञ) अर्थार्थी (प्रयोजनाभिलाषी) जिज्ञासु (जो जानने चाहता है) आर्त (संसारक्लेशयुक्त) ऐसे चार प्रकार के पुण्यवान् पुरुष, हे परशुरामजी ! परमात्मा को भजते हैं । उनमें एक परमात्मा में भक्ति रखने वाला सदा योगसाधक ज्ञानी बढ़कर है । ज्ञानी को ईश्वर अत्यन्त प्रिय है और परमात्मा को ज्ञानी अत्यन्त प्रिय है । चारो श्रेष्ठही हैं परन्तु ज्ञानी परमात्मा और आत्मा को एक भावना करने से श्रेष्ठ है । यही ज्ञानी आत्मयोग साधने से परमोत्तम गति को प्राप्त होता है । ज्ञानी भी परमात्मा को बहुत जन्मों के पीछे पाता है । सब जगत् परमात्मस्वरूप ही है ऐसा जानने वाला ज्ञानी भूमि पर दुर्लभ है ॥

फलमल्पधियां नृणामनित्यं जायते सुरान् ।
भजन्तोऽनित्यदेवाँश्च यान्तीशयज ईश्वरम् ॥२१॥

अर्थ—अल्प बुद्धि वाले पुरुषों को नाशवान् फल मिलता है । जो देवताओं को भजते हैं वे नाशवान् देवताओं ही में प्राप्त होते हैं । और जो परमात्मा का भजन करते है वे परमात्मा में प्राप्त होते हैं ॥

प्रपञ्चान्यं परं भावमव्ययं परमात्मनः ।
अज्ञात्वा विग्रहधरं मन्यन्ते ह्यविवेकिनः ॥२२॥

वेदातीतानि भूतानि वर्तमानानि वेश्वरः ।
भविष्याणि च कोऽप्येनं न वेद परमेश्वरम् ॥२३॥

अर्थ—प्रपञ्च से अतिरिक्त अविनाशी परमात्मा के श्रेष्ठ स्वरूप को न जान के अविवेकी लोग परमात्मा को शरीरधारी मानते हैं । परमेश्वर भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल के भूतों को जानता है। इस परमेश्वर को कोई नहीं जानता ॥

सर्गे सर्वाणि भूतानि रागद्वेषभवं तथा ।
सुखदुःखादिकद्वन्द्वमूलं मोहं प्रयान्ति च ॥२४॥
सत्कर्माचरणाद्येषां पापं नष्टं दृढव्रताः ।
शीतोष्णादिद्वन्द्वमोहमुक्ता ईशं भजन्ति ते ॥२५॥

अर्थ—सृष्टि में सब भूत राग द्वेष से उत्पन्न और सुख दुःख आदि द्वन्द्व जिसका मूल है ऐसे मोह को प्राप्त होते हैं। पुण्य कर्म के आचरण से जिनका पाप नष्ट हुआ है वे दृढ़व्रत वाले पुरुष शीत उष्ण सुखदुःख आदि द्वन्द्वों से छूट कर परमेश्वर को भजते हैं ॥

जरामरणतो मुक्त्यै परमात्मानमाश्रिताः ।
यतन्ते ते शुद्धमात्मस्वरूपं ब्रह्म तद्विदुः ॥२६॥

अर्थ—जरा और मरण से छूटने के लिये परमात्मा का आश्रय लेकर जो यत्न करते हैं वे उस शुद्ध आत्मस्वरूप ब्रह्म को जानते हैं ॥

तदाराधने साधनं सर्वकर्म
यदाध्यात्मिकं साधिभूताधिदैवम् ।
विदुः साधियज्ञं य ईशं विवेक-
युता ब्रह्मरूपं विदुस्तेऽन्तकाले ॥२७॥

अर्थ—इस परमात्मा के आराधन में साधनभूत जो अध्यात्म कर्म है उसको और अधिभूत अधिदैव और अधियज्ञ सहित परमात्मा को जो जानते हैं वे विवेकी पुरुष अन्त काल में ब्रह्मरूप को जानते हैं ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥



परशुराम उवाच—

तद्ब्रह्म किं किमध्यात्ममधिभूतं किमुच्यते ।
राजन् किं कर्म किमधिदैवमस्मिंस्तु वर्ष्मणि ॥१॥
कोऽधियज्ञो यज्ञफलप्रदो यज्ञप्रयोजकः ।
यताचित्तैः कथं ज्ञेयोऽन्तकाले परमेश्वरः ॥२॥

अर्थ—परशुरामजी बोले कि हे राजन् ! ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, अधिभूत क्या कहाता है, कर्म क्या है, अधिदैव क्या है और इस शरीर में यज्ञफलदायक यज्ञ का प्रयोजक

अधियज्ञ क्या है और अन्तकाल में नियतचित्तवाले पुरुषों से परमेश्वर कैसे जाना जाता है ॥

जनक उवाच—

ब्रह्म तु व्यापकं श्रेष्ठं क्षरतीदं कुतोऽपि न ।
स्वतोऽस्य जीवरूपत्वं स्वभावोऽध्यात्मसंज्ञितम् ॥३॥
अधिभूतमधिष्ठात्रनित्याङ्गादेश्च यत् क्षरत् ।
भूतोद्भवस्थितिकरी सृष्टिः कर्माभिधीयते ॥४॥
अधिदैवं सर्वदेवाधिपतिः पुरुषः स्मृतः ।
योऽन्तस्थो व्यापको देहेऽधियज्ञः परमेश्वरः ॥५॥
स्मरँश्च परमात्मानं योऽन्तकाले त्यजँस्तनुम् ।
याति यो ब्रह्मभावं स प्राप्नोत्येव न संशयः ॥६॥

अर्थ—जनकजी बोले कि हे परशुराम जी ब्रह्म तो व्यापक है, श्रेष्ठ है और कहीं से खिरता नहीं अर्थात् नाशवान् नहीं अक्षर है उसका स्वयं जीवरूप होकर जो स्वभाव है वह अध्यात्म है। अनित्य देहादि का अधिष्ठाता और नाशवान् अधिभूत है। भूतों की उत्पत्ति और स्थिति करनेवाली सृष्टि कर्म कहाती है। संपूर्ण देवताओं का स्वामी पुरुष (जीव) अधिदैव कहलाता है। जो देह में अन्तःस्थित व्यापक परमेश्वर है वह अधियज्ञ है। अन्त काल में परमात्मा का स्मरण करते हुए देह को छोड़ कर जाता है वह ब्रह्म भाव को अवश्य प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं ॥

नरो देहं त्यजन्नन्ते यं यं भावं स्मरत्यपि ।
तं तं भावमवाप्नोति सदा तद्भावना यतः ॥७॥
सदा स्मरेश्वरं तस्माज्जहिह्याहववासनाम् ।
मनो बुद्धिं समर्प्येशे तमेष्यसि न संशयः ॥८॥

अर्थ—पुरुष अन्तकाल में देह छोड़ते हुए जिस २ भाव को स्मरण भी करता है उस २ भाव को प्राप्त होता है क्योंकि सदा उसी की भावना रहती है। इसलिये हे परशुरामजी सदा ईश्वर का स्मरण करो और युद्ध की वासना छोड़ो। मन और बुद्धि को परमेश्वर में अर्पण करके उसमें प्राप्त होगे इसमें सन्देह नहीं ॥

अनन्यगामिनाभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा ।
प्रकाशरूपं पुरुषं परं यात्यनुचिन्तयन् ॥९॥
यः परब्रह्म सर्वज्ञमनादिं जगदुद्भवम् ।
धातारं सर्वजगतां सूक्ष्मं तु परमाणुतः ॥१०॥
अचिन्त्यरूपमादित्य इव सर्वप्रकाशकम् ।
प्रकृतेस्तु परं ज्ञात्वान्तकाले स्थिरचेतसा ॥११॥
भक्तियुक्तो भ्रुवोर्मध्ये प्राणं योगबलेन च ।
निवेश्य संस्मरन् याति दिव्यं परमपूरुषम् ॥१२॥

अर्थ—एकाग्र और अभ्यासयोग से युक्त जो चित्त उससे स्मरण करते हुए प्रकाशरूप परमपुरुष को प्राप्त होता है। जो पुरुष ब्रह्म को सर्वज्ञ, अनादि, जगत् का उत्पादक, सर्वजगत् का

पालनेवाला, परमाणु से भी सूक्ष्म, अचिन्त्यरूप, सूर्य के समान सब वस्तु का प्रकाशक और द्विविध प्रकृति से पर जान के अन्त काल में स्थिर चित्त से भृकुटी के मध्य में योग बल से प्राण वायु को रखकर परमेश्वर को स्मरण करते हैं वे दिव्य परमपुरुष को प्राप्त होते हैं ॥

यं वदन्त्यक्षरं वेदविदो ब्रह्म सनातनम् ।
रागादिरहिता यस्मिन् यतयः प्रविशन्ति च ॥१३॥
जिज्ञासया चरन्त्यस्य ब्रह्मचर्यं तपस्विनः ।
तत् संग्रहान्मोक्षपदं वक्ष्ये संक्षेपतोऽधुना ॥१४॥

अर्थ—वेदज्ञ लोग जिसको अविनाशी सर्वदास्थित परब्रह्म कहते हैं, राग आदि से रहित यति लोग जिसमें प्रवेश करते हैं, तपस्वी लोग जिसके जानने की इच्छा से ब्रह्मचर्य करते हैं, वह मोक्षरूप स्थान सङ्ग्रह करके संक्षेप से कहता हूं ॥

संयम्य सकला द्वारो निरुध्य हृदये मनः ।
मूर्ध्नि प्राणान् संनिवाय योगधारणया युतः ॥१५॥
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्रणवं व्याहरन् स्मरन् ।
यः शरीरं त्यजन् याति स प्राप्नोत्युत्तमां गतिम् ।१६।

अर्थ—सब द्वारों को रोक कर मन को हृदय में स्थित करके प्राण को ब्रह्मांड में रखकर योग की धारणा से युक्त हो एकाक्षर रूपी परब्रह्म ओङ्कार को जपते हुए स्मरण करते हुए जो शरीर छोड़ कर जाता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है ॥

यो योगी नित्ययुक्तः सन् स्मरत्येकाग्रमानसः ।
सततं परमं ब्रह्म तस्यासन्नः परेश्वरः ॥१७॥

अर्थ—जो योगी नित्य योगाभ्यास करते हुए एकाग्र चित्त होकर सर्वदा परब्रह्म को स्मरण करता है परमेश्वर उसके समीप है ॥

प्राप्तेऽस्मिन् दुःखसदनं पुनर्जन्मासनातनम् ।
परमां सिद्धिमापन्ना लभन्ते न विवेकिनः ॥१८॥
जन्मागत्य लभन्तेऽत्र ब्रह्मलोकान्तगा इतः ।
उपेत्य परमात्मानं न पुनर्जन्मभाग्भवेत् ॥१९॥

अर्थ—वह परब्रह्म प्राप्त होने पर परम सिद्धि को प्राप्त हुए विवेकी लोग दुःख का स्थान, सर्वदा नहीं रहने वाले पुनर्जन्म को नहीं पाते हैं। यहां से ब्रह्मलोक तक के लोग यहां आकर जन्म लेते हैं। परमात्मा को प्राप्त होकर फिर जन्म को नहीं पाता ॥

सहस्रयुगपर्यन्तं ब्रह्मणो दिवसं निशाम् ।
वेत्यहोरात्रविद्यासौ वेदाब्रह्म जगल्लयम ॥२०॥
अव्यक्तात् सर्वभूतानि जायन्ते दिवसागमे ।
रात्र्यारम्भे विलीयन्तेऽव्यक्ते तत्रैव कारणे ॥२१॥
भूत्वाभूत्वा निशारम्भे लीयते भूतसंहतिः ।
अवशा कर्मभिः स्वैःस्वै जायते दिवसागमे ॥२२॥
अपरं कारणाव्यक्तं परोऽन्योऽस्मात् सदातनः ।

अव्यक्तः सर्वभूतेषु स नश्यत्सु न नश्यति ॥२३॥
परोऽव्यक्तोऽक्षरः सोऽयं परमा गतिरुच्यते ।
निवर्तन्ते न यं प्राप्तास्तत्स्थानं परमात्मनः ॥२४॥

अर्थ—जो पुरुष, हज़ार युग का ब्रह्मा का दिवस और उतनी ही रात्रि को जानता है वह अहोरात्र (वित्) जानने वाला कहाता है, यह ब्रह्मा तक सब जगत् के लय को जानता है । दिवस के आरंभ में सब भूत अव्यक्त (पूर्वोक्त द्विविध प्रकृति) से उत्पन्न होते हैं और रात्रि के आरम्भ में उसी कारण अव्यक्त में लीन होजाते हैं, भूतों का समूह उत्पन्न हो होकर रात्रि के आरम्भ में नष्ट होजाता है । यह कारण अव्यक्त अपर कहाता है इससे अन्य सदा रहने वाला अव्यक्त है वह सर्वभूत नष्ट होने से नष्ट नहीं होता । यह पर अव्यक्त (पूर्वोक्त) अक्षर है, यह परमगति कहाता है । जिसको पाए हुए पुरुष फिर नहीं पलटते वह पर अव्यक्त परमात्मा का स्थान है ॥

चराचरं जगद्व्याप्तं येन यस्यान्तरे स्थितः ।
भूतग्रामोऽनन्यभक्त्या प्राप्यः स पुरुषः परः ॥२५॥

अर्थ—जिसने चराचर जगत् को व्याप्त किया है जिसमें भूत समूह स्थित है वह परमपुरुष एकायभक्ति से पाने योग्य है ॥

नावर्तन्ते पुनर्यत्रावर्तन्ते वाप्यनेहसि ।
प्रयाता योगिनः कालं तं वक्ष्यामि मुने शृणु ॥२६॥

अर्थ—जिस समय में गये हुए योगी पलट नहीं आते हैं अथवा पलट आते हैं उस कालको कहता हूं, हे परशुरामजी मुने ॥

उत्तरायणषण्मासाः शुक्लो ज्योतिरहोऽनलः ।
ब्रह्मण्यर्कसृतौ याता नावर्तन्तेऽत्र योगिनः ॥२७॥
दक्षिणायनषण्मासाः कृष्णो धूमो रजन्यपि ।
योगिनोऽब्जसृतौ याता आवर्तन्तेऽत्र ते पुनः ॥२८॥

अर्थ—उत्तरायण के छः महीने, शुक्लपक्ष, कोई तेज, दिन, अग्नि, इनमें योगी लोग सूर्य मार्ग में ब्रह्म में जाते हैं फिर पलट नहीं आते। दक्षिणायन के छः महीने कृष्णपक्ष धूम्रां रात्रि इनमें योगी लोग चन्द्रमार्ग में जाते हैं वे फिर यहां पलट आते हैं ॥

ब्रह्माण्डमध्यगादर्कान्नाकृष्येतार्कमार्गगः ।
भूम्याकर्षणतश्चन्द्रादाकृष्येताब्जमार्गगः ॥२९॥

अर्थ—ब्रह्माण्ड के मध्यगत सूर्य से सूर्यमार्ग में गया हुआ नहीं खिंच सकता, चन्द्रमार्ग में गया हुआ भूमि के आकर्षण के कारण चन्द्र से खिंच सकता है ॥

सूर्यचन्द्राध्वनी शुक्लकृष्णाख्ये जगतो मते ।
शाश्वतेयात्यनावृत्तिमावृतिं क्रमतो यतः ॥३०॥
कोऽपि द्वे वर्त्मनी एते जानन् योगी न मुह्यति ।
सर्वेष्वनेहस्सु ततो ब्रह्मर्ये योगमभ्यस ॥३१॥

अर्थ—सूर्यमार्ग शुक्ल नाम का, चन्द्रमार्ग कृष्ण नाम का, जगत् का सर्वदा का मार्ग है। शुक्ल में नहीं पलटता कृष्ण में पलट आता है। इन दो मार्गों को जानता हुआ कोई योगी

मोह को नहीं प्राप्त होता। हे परशुरामजी इससे सब काल में योग का अभ्यास करो॥

तपोदानयज्ञेषु वेदेषु लोके
प्रदिष्टं तु पुण्यं फलं यत् समस्तम्।
तदत्येति योगी विदित्वेदमुक्तं
परं स्थानमाप्नोति मोक्षस्वरूपम्॥२१॥

अर्थ—तप दान और यज्ञों के करने से, और वेद के अभ्यास से लोक में जो संपूर्ण पुण्यफल होना कहा है, योगी यह पूर्वोक्त कहा हुआ जानकर उस पुण्यफल को उल्लङ्घन करता है उससे बढ़कर इसको पुण्य होता है और मोक्षस्वरूप उत्तम स्थान को प्राप्त होता है॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां चतुर्दशः सर्गः॥१४॥



जनक उवाच—

सोपासनं गुह्यतमं ज्ञानं वक्ष्येऽनसूयवे ।
तुभ्यमेतत् सविज्ञानं संसारान्मोक्ष्यसे यतः ॥१॥
शुचि श्रेयो दृश्यफलं कर्तुं योग्यं सुखेन यत् ।
राजयोगाभिधं धर्म्यं परं गोप्यं यदव्ययम् ॥२॥
धर्मेऽस्मिन् श्रद्धया हीना पुरुषाः परमेश्वरम् ।
अप्राप्य मृत्युसंसारमार्गे भ्रान्ताः पतन्ति ते ॥३॥

अर्थ—जनकजी बोले कि उपासना सहित अत्यन्त गोपनीय ज्ञान, विज्ञान के साथ, मैं तुम से कहूंगा क्यों कि तुम असूया दोष से रहित हो, जिसके जानने से संसार से मुक्त होगे। जो पवित्र श्रेष्ठ जिसका फल दृश्य है वह राजयोग नाम का ज्ञान सुख से करने योग्य है धर्म सहित गोपनीय और अविनाशी है। इस धर्म में जो श्रद्धाहीन पुरुष हैं वह परमेश्वर को न पाके मृत्युरूपी संसार मार्ग में घूमते हुए गिरते हैं॥

ईशेनाव्यक्तरूपेण कृत्स्नं व्याप्तमिदं जगत् ।
सर्वभूतानि तत्स्थानि नाप्ययं तेष्ववस्थितः ॥४॥
नापि भूतानि तत्स्थानि योगं पश्येदमैश्वरम् ।
परात्मा भूतपातासो न भूतस्थोऽथ भूतभृत् ॥५॥
सर्वत्रगो महान्वायुर्नित्यं व्योमस्थितो यथा ।
तथेशस्थानि सर्वाणि भूतानीति विचारय ॥६॥

अर्थ—अव्यक्त (अदृश्य) परमात्मा ने इस संपूर्ण जगत्

को व्याप्त किया है, सर्वभूत उस परमात्मा में स्थित हैं, परन्तु यह ईश्वर का ऐश्वर्य देखो कि परमात्मा सर्वभूतों में स्थित नहीं (अलग) है और न परमात्मा में सर्वभूत स्थित हैं-(अलग हैं) यह परमात्मा भूतों का पालन करने वाला है भूतों को धारण करता है, भूतों में स्थित नहीं है। जैसे सर्वत्र व्याप्त महान् वायु सदा आकाश में स्थित है ऐसा विचारो॥

प्रलये सर्वभूतानि प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकाम् ।
यान्ति तानि पुनः कल्पारम्भे विसृजति प्रभुः ॥७॥
लये लीनं भूतगणं स्वीकृत्य प्रकृतिं निजाम् ।
तद्वशादवशंभूयो यथाकर्म सृजत्ययम् ॥८॥
न सृष्टिलयकर्माणि वध्नति परमेश्वरम् ।
तेषु कर्मस्वनासक्तं सदोदासीनवत् स्थितम् ॥९॥
साक्षीभूतेनेश्वरेण सृजति प्रकृतिर्जगत् ।
चराचरमतो भूयो जायते च विलीयते ॥१०॥

अर्थ—प्रलय काल में सर्वभूत त्रिगुणात्मक प्रकृति (पूर्वोक्त माया) में लीन होते हैं फिर कल्प के आरम्भ में उन भूतों को परमात्मा उत्पन्न करता है। यह परमात्मा अपनी प्रकृति को स्वीकार करके प्रलयकाल में लीन हुए और प्रकृति वश से अवश हुए भूत समूह को उनके कर्मों के अनुसार फिर उत्पन्न करता है। परमेश्वर को सृष्टि और प्रलय करने के कर्म, बन्ध के कारण नहीं होते क्योंकि परमात्मा उन कर्मों में आसक्त नहीं उदासीन सा रहता है। प्रकृति, साक्षीभूत ईश्वर के द्वारा

जगत् को उत्पन्न करती है उससे चराचर जगत् फिर फिर उ-त्पन्न होता है और फिर फिर नष्ट होता है (ईश्वर निमित्त मात्र है)॥

नरदेहाश्रितमिवावजानन्त्यविवेकिनः ।
ईशं तस्य परं भावमज्ञात्वा भूतकारणम् ॥११॥
निष्फला ज्ञानकर्माशा स्तेषां विक्षिप्तचेतसाम् ।
आसुरीं राक्षसीं मोहकारिणीं प्रकृतिं श्रिताः ॥१२॥
आश्रित्य प्रकृतिं दैवीं महात्मानः परेश्वरम् ।
ज्ञात्वाव्ययं च भूतादिं भजन्त्येकाग्रमानसाः ॥१३॥

अर्थ—अविवेकी लोग परमेश्वर को देहधारी जैसा मान के अनादर करते हैं। भूतों के उत्पत्ति का कारण ऐसे समर्थ उसके उत्तम भाव को नहीं जानते। उन विक्षिप्त चित्तवालों (पागलों) के ज्ञान कर्म और आशा निष्फल हैं। वे आसुरी (राजस) राक्षसी (तामस) मोह करनेवाली प्रकृति का आ-श्रय किए हुए हैं। महात्मा लोग दैवी (सात्विक) प्रकृति का आश्रय करके परमात्मा को अविनाशी और भूतों का कारण जान के एकाग्रचित्त होकर भजते हैं॥

उद्युक्ता विज्ञातुं दृढनियमाः कीर्तयन्त्यनिशम् ।
भक्त्येशं प्रणमन्तस्ते स्थिरचित्ता उपासते जगति।१४।
यजन्तो ज्ञानयोगैनैकत्वेनान्य उपासते ।
विज्ञायान्ये तु बहुधा विश्वरूपं पृथक्कृतः ॥१५॥

अर्थ—ऐसे लोग परमात्मा के जानने का उद्योग करते हैं। उनके नियम दृढ़ होते हैं, सदा परमात्मा को भजते हैं और प्रणाम करते हैं और इस जगत् में स्थिरचित होकर परमात्मा की उपासना करते हैं। कोई ज्ञानयोग के द्वारा परमात्मा को भजते हैं और उसको एक समझ कर उपासना करते हैं और लोग (कर्मयोगी) बहुत प्रकार का, जगत् स्वरूप, अलग अलग जान कर भजते हैं और उपासना करते हैं॥

ऐशो यज्ञः क्रतुर्दैवः स्वधा पित्र्यः स ईश्वरः।
हुतमग्निः परात्मैव मन्त्रो हव्यं तथौषधम् ॥१६॥
जगतश्च पिता माता वेद्यं धाता पितामहः।
ऋग्यजुःसामवेदाश्च पवित्रः प्रणवश्च सः ॥१७॥
जगतां पोषकः साक्षी नियन्ता कर्मणां फलम्।
भोगस्थानं च शरणं हितकृत् सृष्टिकारकः ॥१८॥
संहारकारकः स्थानं धर्माधारश्च कारणम्।
अविनाशी सन्ततं च परमात्मा निगद्यते ॥१९॥
सन्तापकं सूर्यतेजो जलाकर्षणकारकम्।
विसर्जकमपामीशः सदसज्जीवनं मृतिः ॥२०॥

अर्थ—परमात्मा सम्बन्धी यज्ञ (अभिलाषा रहित), देव सम्बन्धी क्रतु (अभिलाषा सहित) पितृ सम्बन्धी स्वधा यह ईश्वर ही है। किया हुआ होम और अग्नि परमात्मा ही है। मन्त्र होम द्रव्य औषध (होमयोग्य समिधा आदि) वही है। जगत् का पिता माता उत्पत्तिकर्ता पितामह जगत् का वेद्य

(जानने के योग्य) वही है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और पवित्र ओङ्कार यही है। जगत् का पोषण करनेवाला, साक्षी, नियन्ता (प्रभु), कर्मों का फल, भोग का स्थान, शरण (रक्षक), हितकर्ता, सृष्टिकर्ता, संहारकर्ता, स्थान, धर्म का आधार, कारण, अविनाशी, परमात्मा ही है। संताप करनेवाला सूर्य का तेज जल को खींचनेवाला और छोड़नेवाला भी वही है। जल का स्वामी (वरुण), सत् असत् (सत्य असत्य वा अच्छा बुरा) और जीवन मरण वही परमात्मा है॥

केवलं परमात्मानमाश्रित्यान्यान्विसृज्य च ।
उपासते नित्ययुक्तास्तद्योगक्षेमदो विभुः ॥२१॥
परमात्मा सर्वयज्ञभोक्ता चाधिपतिः स्मृतः ।
तं तत्वतो न जानन्ति ते संसारे पतन्त्यपि ॥२२॥
परमेशोपासनातो युक्ता नान्यस्य यो नरः ।
तदन्यं श्रयते जीवन् शवो नरकमाप्नुयात् ॥२३॥

अर्थ—जो केवल परमात्मा को आश्रय करके औरों को छोड़ के सदा योगयुक्त होकर उसकी उपासना करते हैं उनको योग क्षेम (जीवन वा वृत्ति) का देनेवाला परमात्मा है परमात्मा सर्वयज्ञों का भोक्ता और स्वामी है। उसको यथार्थरूप से जो नहीं जानते हैं वे संसार में गिरते भी हैं। इसलिये परमात्मा की उपासना करना ठीक है औरों की नहीं। जो पुरुष परमात्मा से अन्य का आश्रय करता है वह जीता हुआ ही मुर्दा नरक में जाता है॥

यद्यत्करोषि भुङ्क्षे वा जुहोषि च तपस्यसि ।
ददासि च मुने सर्वं प्रभवे तत्तदर्पय ॥२४॥
अर्पयन् सदसत्कर्म कर्मबन्धाद्विमुच्यसे ।
सन्न्यासयोगयुक्स्वान्तो मुक्तो याति परेश्वरम्॥२५॥

अर्थ—जो जो करते हो खाते हो, होमते हो, तपते हो, देते हो हे परशुराम जी वह सब परमात्मा को अर्पण करो। शुभाशुभ कर्मों को अर्पण करते हुए तुम कर्म के बन्धनों से छूट जाओगे इसी से लोग सन्न्यासयोगयुक्त चित्तवाले मुक्त होकर परमेश्वर में प्राप्त होते हैं ॥

स सर्वभूतेषु समः कोऽपि नास्यास्त्यरिः प्रियः ।
भक्त्या भजन्ति ये तेऽस्मिन् प्रभौ तेषु परेश्वरः२६
दुराचारोऽपि योऽनन्यभक्तिरीशे निधाय हृत् ।
जपति प्रणवं नित्यं स साधुः शुभकार्यकृत् ॥२७॥
ईशभक्तो धर्मवान् स्याद् द्रुतं शान्तिमनारतम् ।
लभतेवेति जानीहीशभक्तो नहि नश्यति ॥२८॥
नीचा अपि परात्मानमाश्रित्यातास्तु सद्गतिम् ।
ऋषिस्त्वं सद्गतिं यास्यस्यत्र नैवास्ति संशयः॥२९॥

अर्थ—परमात्मा सर्वभूतों में (सम) समभाव रखने वाला है। उसका न कोई शत्रु है न प्रिय है। जो भक्ति से भजते हैं वे इस प्रभु में हैं और उनमें परमेश्वर है। दुराचारी भी परमेश्वर में अनन्य भक्ति होकर मन उसमें ठहराकर सदा

प्रणव (ॐ) को जपता है वह साधु है और उत्तम कर्म करने वाला है। परमात्मा का भक्त शीघ्र ही धर्मवान् होता है और सदा शान्ति को पाता ही है ऐसा जानो। नीच लोग भी परमात्मा का आश्रय करके सद्गति को प्राप्त हुए। तुम ऋषि हो सद्गति को प्राप्त होगे इसमें सन्देह नहीं है॥

कृत्वैकाग्रं स्वं मनस्त्वं तु भक्त्या
जप्त्वोंकारं नित्यमीशं स्मरँश्च।
संपूज्यापीशं नमस्कृत्य तिष्ठेः
स्वस्थो निःसन्देहतो मुक्तिभाक् स्याः ॥३०॥

अर्थ—हे परशुराम जी तुम अपने मन को एकाग्र करके भक्ति से सदा ॐकार को जप कर परमेश्वर को स्मरण करके पूजन करके नमस्कार करके स्थिर होओ तो स्वस्थ होकर मुक्ति को पाओगे इसमें कोई सन्देह नहीं है॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां पंचदशः सर्गः ॥१५॥



जनक उवाच—

मुने शृणुष्वभूयोऽपि श्राव्यं हि परमं वचः ।
वक्ष्यामि प्रेमवशतो यत्तवाहं हितेच्छया ॥१॥

अर्थ—जनक जी बोले कि हे परशुरामजी सुनने योग्य उत्तम बात जो तुम्हारे प्रेम के वश और हित की इच्छा से कहता हूं उसे फिर भी सुनो ॥

उत्पत्तिरहितं नित्यं सर्वलोकेश्वरं विभुम् ।
यो वेत्ति मोहरहितः स मुच्येतैनसां गणात् ॥२॥

अर्थ—उत्पत्ति से रहित सनातन सम्पूर्ण लोक का स्वामी परमेश्वर को जो जानता है वह मोह रहित होकर पापों के समूह से मुक्त होता है ॥

परेशः सर्वभूतानामादिर्मध्योऽन्त उच्यते ।
वस्तु श्रेष्ठं जगति यत् स एवातः शृणुष्व तत् ॥३॥

अर्थ—परमेश्वर सब भूतों का आदि मध्य और अन्त कहाता है। जो जगत् में श्रेष्ठ वस्तु है वह वही परमात्मा है अतः उन श्रेष्ठ वस्तुओं को सुनो ॥

उच्यते नामसु श्रेष्ठः प्रणवः परमात्मनः ।
पुस्तकेष्वथ वेदेषु श्रेष्ठा वेदास्त्रयः स्मृताः ॥४॥
श्रेष्ठोऽस्ति देवतास्विन्द्रो द्वादशार्केषु वामनः ।
भास्वत्सु विषयेष्वेवमुच्यते रविरंशुमान् ॥५॥

मरीचिश्च नभस्वत्सु नक्षत्रेषु च चन्द्रमाः ।
ज्ञानशक्तिश्च भूतेषु मनो ज्ञानेन्द्रियेषु च ॥६॥
रुद्रेषु शङ्करो यक्षरक्षसां गुह्यकेश्वरः ।
मेरुः शिखरिषु श्रेष्ठो वसुष्वष्टासु पावकः ॥७॥
सेनापतिषु सेनानीः पुरोधस्सु बृहस्पतिः ।
महर्षीणां भृगुर्गीर्षु प्रणवोऽब्धिः सरस्सु च ॥८॥

अर्थ—प्रणव (ॐ) परमात्मा के सब नामों में श्रेष्ठ है। पुस्तकों में अथवा जानने की वस्तुओं में तीनों वेद श्रेष्ठ हैं। ऐसेही चमकीले विषयों में कान्ति युक्त सूर्य श्रेष्ठ है। वायुओं में मरीचि, नक्षत्रों में चन्द्रमा, प्राणियों में ज्ञानशक्ति और ज्ञानेन्द्रियों में मन श्रेष्ठ है। ग्यारह रुद्रों में शङ्कर श्रेष्ठ है। सेनापतियों में स्वामिकार्तिकेय, पुरोहितों में बृहस्पति, महर्षियों में भृगु, वाणियों में प्रणव और सरस्वानों में (जलवानों में) समुद्र श्रेष्ठ है॥

जपयज्ञश्च यज्ञेषु स्थावरेषु हिमाचलः ।
पिप्पलः सर्ववृक्षेषु वट इत्यपि केचन ॥९॥
युक्तं वरौ द्वावपीति देवर्षिषु च नारदः ।
ब्राह्मणेषु च वेदज्ञः क्षत्रियेष्वर्कवंशजः ॥१०॥
विशां रवणहारश्च शूद्राणां गोपनापितौ ।
सिद्धानां कपिलो गन्धर्वाणां चित्ररथः स्मृतः ॥११॥
शस्त्रेषु वज्रमश्वेषूच्चैःश्रवा गोषु कामधुक् ।
गजेष्वैरावतः कामः प्रजोत्पत्तिकरेषु च ॥१२॥

सर्पेषु वासुकिर्वारिवासिनां वरुणः स्मृतः ।
पितॄणामर्यमा राजा नृषु दण्डभृतां यमः ॥१३॥

अर्थ—यज्ञों में जपयज्ञ, स्थावरों में हिमाचल, सर्व वृक्षों में पीपल श्रेष्ठ है। कोई बड़ श्रेष्ठ है ऐसा भी कहते हैं। दोनों श्रेष्ठ हैं यह ठीक है। देवर्षियों में नारद, ब्राह्मणों में वेद जानने वाला, क्षत्रियों में सूर्यवंशी, वैश्यों में स्वर्णकार और शूद्रों में ग्वाल व नाई श्रेष्ठ हैं। सिद्धों में कपिल मुनि गंधर्वों में चित्ररथ श्रेष्ठ है। शस्त्रों में वज्र, घोड़ों में उच्चैःश्रवा, गौओं में कामधेनु, हाथियों में ऐरावत और प्रजाओं की उत्पत्ति करनेवालों में कामदेव श्रेष्ठ है। सर्पों में वासुकि, जल वासियों में वरुण, पितरों में अर्यमा, मनुष्यों में राजा और दण्डधारण करने वालों में यम श्रेष्ठ है॥

सिंहः पशुषु दैत्येषु प्रह्लादो नाशकर्तृषु ।
कालः पक्षिषु तार्क्ष्यश्च वायुः शुचिकरेषु च॥१४॥
नक्रो वारिचरेष्वाब्धिर्नदेषु श्रेष्ठ उच्यते ।
सर्वविद्यासु वेदान्तविद्याऽकारोऽक्षरेषु च ॥१५॥
स्त्रीवाच्येषु च कीर्तिर्वाङ् मृत्युर्हर्तृषु च स्मृतः ।
गायत्री छन्दसां मार्गो मास्त्वृतूनां सुमाकरः ।१६।
द्यूतं छलयतां तेजस्तेजस्विषु वरं स्मृतम ।
सर्वमन्त्रेषु गायत्री शुक्राचार्यः कविष्वपि ॥१७॥

अर्थ—पशुओं में सिंह, दैत्यों में प्रह्लाद, नाश करने वालों में काल, पक्षियों में गरुड़ और पवित्र करने वालों में

वायु श्रेष्ठ है। जलचरों में मगर, नद नदियों में समुद्र श्रेष्ठ है। सब विद्याओं में वेदान्तविद्या, अक्षरों में अकार, स्त्री जो कहाती हैं उनमें कीर्ति और वाणी, हरण करनेवालों में मृत्यु, छन्दों में गायत्री छन्द, महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त ऋतु श्रेष्ठ है। छल करनेवालों में जूआं, तेजवालों में तेज, सब मन्त्रों में गायत्रीमन्त्र और कवियों में शुक्राचार्य श्रेष्ठ हैं॥

संक्षेपादिह कथितं हि पर्शुराम
प्राक् प्रोक्तं पशुपतिना श्रुतं मया यत्।
यद्यातः परमपि वा पिपृच्छिपुस्त्वं
पृच्छस्वाखिलमिह तद्वदामि तेऽहम्॥१८॥

अर्थ—हे परशुरामजी पहिले जो महादेवजी ने कहा था और मैंने सुना था वह यहां संक्षेप से मैंने कहा। जो इसके उपरान्त भी कुछ पूछना चाहते हो तो पूछो। वह सब मैं तुमको कहूंगा॥

वाल्मीकिमुनिः प्राह श्रीरामं परशुरामाय।
जनकेनोक्तं श्रेष्ठज्ञानं तत् ते मया कथितम्॥१९॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी से वाल्मीकि ऋषि बोले कि परशुराम जी के लिये जनक राजा ने जो श्रेष्ठ ज्ञान कहा वह मैंने तुमको कहा॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां षोडशः सर्गः॥१६॥

परशुराम उवाच—

ये भक्त्या सगुणं ब्रह्मोपासते सर्वदा नृप ।
ज्ञानेन निर्गुणं वा ये द्वयोः श्रेष्ठं ब्रवीहि मे ॥१॥

अर्थ—परशुरामजी बोले कि जो लोग भक्ति के अनुसार सदा ब्रह्म की उपासना करते हैं अथवा ज्ञान मार्ग के अनुसार निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं दोनों में श्रेष्ठ कौन है सो मुझे कहो ॥

जनक उवाच—

ईशे मनः स्थिरं कृत्वा परया श्रद्धया युतः ।
एकाग्रचेतसा ब्रह्मोपासते तेऽपि सत्तमाः ॥२॥

अर्थ—जनकजी बोले कि परमात्मा में मन स्थिर करके परम श्रद्धा से युक्त होकर एकाग्र-चित्त से ब्रह्म की उपासना करते हैं वे भी श्रेष्ठ हैं ॥

सर्वत्र ये समधियः संनिरुध्येन्द्रियव्रजम् ।
सर्वभूतहितासक्ता अनिर्देश्यं सुरादिभिः ॥३॥
अव्यक्तं यदचिन्त्यं च समं सर्वत्र चाचलम् ।
नित्यमेकाक्षरं ब्रह्मोपासतेऽतिवरं स्मृतम् ॥४॥

अर्थ—जो सर्वत्र समबुद्धि रखकर इन्द्रियों के समूह को रोक कर सब प्राणियों के हित में लगे हैं वे, देवादिकों से भी कहने योग्य नहीं ऐसे, तथा इन्द्रियगोचर नहीं, ध्यान में न आ सके, सर्वत्र एकसा रहे और अचल रहे ऐसे एकाक्षर ब्रह्म (ॐ) की सदा उपासना करते हैं, वह अति श्रेष्ठ है ॥

अतस्तु ये नराश्चित्तं कृत्वैकाग्रतया स्थिरम् ।
भजन्तीशं मृत्युरूपिसंसाराद्द्राक् तरन्ति ते ॥५॥

अर्थ—इस लिये जो पुरुष चित्त को एकाग्रता से स्थिर करके परमात्मा को भजते हैं वे मृत्यु रूपी संसार से शीघ्र ही पार होजाते हैं ॥

परमेशे पर्शुराम मनो बुद्धिं निवेशय ।
तेन निःसंशयं विद्धि लीनः स्याः परमात्मनि ॥६॥
अभ्यासयोगतो ज्ञानं तस्माद्ध्यानं वरं स्मृतम् ।
अस्मात्कर्मफलत्यागोऽतः संसाराच्छमं व्रजेः ॥७॥

अर्थ—हे परशुराम जी । परमेश्वर में मन और बुद्धि को लगाओ इससे जानो कि निःसन्देह परमात्मा में लीन हो जाओगे । अभ्यासयोग से ज्ञानयोग श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से कर्मफलों का त्याग करना श्रेष्ठ है । इस कर्म फल त्याग से संसार से शान्ति को प्राप्त होओगे ॥

न द्विष्यात् सर्वभूतानि स्निह्येद्दीने दयेत यः ।
अहन्ताममताहीनः समानः सुखदुःखयोः ॥८॥
योगी क्षमावान् संतोषयुक्त एकाग्रमानसः ।
दृढनिश्चय ईशे यो मनोबुद्धी समर्पयेत् ॥९॥
यो न त्रस्यति कस्माच्चित्रस्येज्जन्तुर्न कोऽप्यतः ।
हर्षोद्वेगभयक्रोधैर्मुक्तः प्रेष्ठः परात्मनः ॥१०॥

अर्थ—जो सर्व भूतों से द्वेष न करे स्नेह करे, दीन पर दया करे, अहंकार और ममता से रहित हो, सुख दुःख को समान जाने, योग युक्त हो, क्षमा करे, संतोषयुक्त हो, एकाग्रचित्त हो, दृढ़ निश्चय रक्खे, जो परमात्मा में मन और बुद्धि को अर्पण करे, जो आप किसी से त्रास न पावे, कोई जन्तु इससे त्रास न पावे और हर्ष उद्वेग भय और क्रोध से रहित हो वह परमात्मा को अत्यन्त प्रिय है ॥

निरपेक्ष उदासीनः समर्थो निर्व्यथः शुचिः ।
सर्वयत्नपरित्यागी प्रियः स्यात् परमात्मनः ॥११॥
नाप्रियं द्वेष्टि नो हृष्येत् प्रियाच्छोचेन्न नेच्छति ।
सदसत्फलसंत्यागी भक्तिमानीश्वरप्रियः ॥१२॥
मानापमानयोर्मित्रद्विषतोः समधीर्भवेत् ।
सङ्गहीनश्च शीतोष्णसुखदुःखेषु यः समः ॥१३॥
स्तुतिनिन्दासमज्ञातानुप्रयोजनवर्तनः ।
स्थिरधीः प्राप्तसन्तोषी भक्तः स्यात् प्रिय ईशितुः ॥१४॥

अर्थ—अपेक्षा रहित, उदासीन, समर्थ, पीड़ा रहित, पवित्र और सर्व प्रयत्नों का (अनेक प्रकार की युक्तियों का) त्याग करने वाला परमात्मा को प्रिय है। अप्रिय वस्तु का जो द्वेष नहीं करता, प्रिय वस्तु पाकर हर्ष नहीं करता, शोक नहीं करता, न कुछ किसी से चाहता है, शुभ अशुभ फल त्याग करके रहता है और भक्तिमान् है, वह परमात्मा को प्रिय है। मान अपमान में और मित्र शत्रु में जिसकी समान बुद्धि है, संग

रहित है, शीत उष्ण सुख दुःख आदि द्वन्द्वों में समता रक्खे, स्तुति और निन्दा को समान जाने, प्रयोजन के अनुसार बरते और स्थिर बुद्धि हो, प्राप्त वस्तु से सन्तोष करे और ईश्वर का भक्त हो वह परमात्मा को प्रिय है ॥

धर्मरूप इह मोक्षसाधनो-
पाय एप कथितो मया तव ।
पर्शुराम सुधया समोह्यत-
स्तृप्तिमाप्नुहि च मानसे स्वके ॥१५॥

अर्थ—हे परशुराम जी यह यहां धर्मरूप मोक्षसाधन का उपाय मैंने तुम्हें कहा, यह निश्चय से अमृत के समान है इससे अपने मन में तृप्ति को प्राप्त होओ ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां सप्तदशः सर्गः ॥१७॥



परशुराम उवाच—

प्रकृतिं पुरुषं क्षेत्रं क्षेत्रज्ञं ज्ञानमेव च ।
ज्ञेयं जिज्ञासएतन्मे भूपते कृपया वद ॥१॥

अर्थ—परशुरामजी बोले कि हे राजन् प्रकृति पुरुष क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ज्ञान और ज्ञेय इनको जानने चाहता हूं यह मुझे कृपा करके कहो ॥

जनक उवाच—

भोगस्थानमयं कायः क्षेत्रं तं यो यथार्थतः ।
वेत्ति क्षेत्रज्ञमाहुस्तं ज्ञानिनश्च विवेकिनः ॥२॥

अर्थ—जनकजी बोले कि भोग का स्थान यह शरीर क्षेत्र है उसको जो ठीक ठीक जानता है उसको ज्ञानी और विवेकी लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥

सर्वक्षेत्रेष्वनुगतं विद्धि क्षेत्रज्ञमीश्वरम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं मोक्षहेत्वीश्वरस्य तत् ॥३॥

अर्थ—सर्वक्षेत्रों में एक स्वरूप क्षेत्रज्ञ तो परमात्मा को जानो इसलिये क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है सो परमेश्वर का ज्ञान है वह मोक्ष का कारण है ॥

इन्द्रियाढ्यं स्वरूपेण जडमिच्छादिधर्मकम् ।
क्षेत्रं विकारि पुरुषप्रकृत्योर्योगसम्भवम् ॥४॥
यश्चाप्यचिन्त्यैश्वर्यादिप्रभावैः पूर्ण एव सः ।
क्षेत्रज्ञ उच्यते मत्त इदं संक्षेपतः शृणु ॥५॥

अर्थ—जो इन्द्रियों से युक्त, स्वरूप से जड़, इच्छा आदि जिसके धर्म हैं, विकार सहित और पुरुष प्रकृति के संयोग से उत्पन्न है वह क्षेत्र है और जो अचिन्त्य ऐश्वर्यादि प्रभावों से पूर्ण है वह क्षेत्रज्ञ कहाता है यह मुझसे संक्षेप में सुनो ॥

पराशरवसिष्ठादिऋषिभिस्तु पृथक्पृथक् ।
ऋग्यजुःसामवेदैश्च ब्रह्मसूत्रपदैरपि ॥६॥
हेतुमद्भिर्निश्चितैश्च क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिदम् ।
यथास्वरूपं बहुधा स्वरूपमिह वर्णितम् ॥७॥

अर्थ—यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का जैसा स्वरूप है वैसा स्वरूप पराशर वसिष्ठ आदि ऋषियों ने वर्णन किया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदों से ब्रह्मसूत्र के पदों से भी जो कारण युक्त और निश्चित हैं उनसे भी बहुत प्रकार से अलग अलग वर्णन किया गया है ॥

पृथ्व्यादिपञ्च भूतानि प्रकृतिर्धीरहंकृतिः ।
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चापि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ॥८॥
ज्ञानेन्द्रियस्य विषयाः पञ्च शब्दादयो मनः ।
चतुर्विंशतितत्त्वानि भवादीन्येकीकृतानि चेत् ॥९॥
ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिर्देहो दुःखं सुखं धृतिः ।
इच्छा द्वेष इदं क्षेत्रं सविकारं निरूपितम् ॥१०॥

अर्थ—पृथ्वी आदि पञ्च महाभूत प्रकृति बुद्धि अहंकार पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियों के पांच शब्द

आदि विषय और मन ये पृथ्वी आदि इकट्ठा करें तो चौबीस तत्व होते हैं। ज्ञानरूप मन की वृत्ति देह सुख दुःख धैर्य इच्छा और द्वेष यह विकार सहित क्षेत्र कहा है॥

क्षमाऽहिंसार्जवं मानरहितत्वमदाम्भिता ।
वाह्यशौचं गुरोः सेवाऽरागित्वं चित्तशुद्धता ॥११॥
स्थैर्यं मनोनिग्रहश्चेन्द्रियार्थेषु विरक्तता ।
अनहंकारिता-व्याधिजन्ममृत्युजरादिषु ॥१२॥
दर्शनं दुःखदोषाणां दारापत्यगृहादिषु ।
असङ्गोत्कटरागित्वं सततं समचित्तता ॥१३॥
इष्टानिष्टाप्तिषु ब्रह्मण्यनन्यैकाग्रचेतसा ।
भक्तिरेकान्तवासित्वं वैराग्यं लोकसंसदि ॥१४॥
तत्वज्ञानार्थयोर्दृष्टिः सदेशज्ञाननिष्ठता ।
ज्ञानमेतत् समासेन प्रोक्तमज्ञानमन्यथा ॥१५॥

अर्थ—क्षमा रखना, दूसरों को पीड़ा न देना, सीधे मार्ग से चलना, घमंड और दंभ को छोड़ देना, बाह्य शुद्धि रखना, गुरु की सेवा करना, रागादि रहित होना, चित्त शुद्ध रखना, स्थिर होना, मन को रोकना, विषयों से विरक्त होना, अहंकार छोड़ना, रोग जन्म मरण बुढ़ापा इत्यादि में दुःख और दोष देखते रहना, स्त्री पुत्र गृह आदि से संग छोड़ना और उत्कट (बढ़ कर) प्रेम रखना, परमात्मा में एकाग्र चित से अनन्य भक्ति रखना, एकान्त में वास करना, लोगों के समाज में वैराग्य रखना, सत्यज्ञान और सत्य के प्रयोजन में दृष्टि रखना और सदा

परमात्मा के जानने में स्थित रहना यह संक्षेप से ज्ञान कहा इससे उलटा अज्ञान है ॥

यज्ज्ञानान्मोक्षमाप्नोति वक्ष्यामि ज्ञेयमप्यदः ।
निषेधविध्यविषयं नित्यं चातिशयोज्झितम् ॥१६॥
पाणिपादश्रुतिशिरोक्षिमुखं सर्वतश्च यत् ।
आवृत्य सर्वं हि जगत् तिष्ठति ब्रह्म तत् स्मृतम् ।१७।
चक्षुरादीन्द्रियगणं रूपादिविषयानपि ।
आभासयति यत् सर्वेन्द्रियैर्विरहितं स्वयम् ॥१८॥
असङ्गं सर्वजगतामाधारं रहितं गुणैः ।
सत्वादिभिस्तथा तेषां भोक्तृ पातृ च तत् स्मृतम् ।१९।

अर्थ—जिसके जानने से मोक्ष प्राप्त होता है वह ज्ञेय भी कहता हूं। जो निषेध और विधि का विषय नहीं, (नित्य) उत्पत्ति और नाश से रहित है, जिससे बढ़कर कोई नहीं, चारों ओर हाथ पांव कान सिर नेत्र और मुख वाला जो है और संपूर्ण जगत् को घेरे हुए रहता है वह ब्रह्म परमात्मा कहाता है वही ज्ञेय है। नेत्र आदि इन्द्रियों के समूह को और रूप आदि उनके विषयों को भी जो भासमान (देखने योग्य) करता है और आप संपूर्ण इन्द्रियों से रहित है, सङ्ग रहित और सब जगत् का आधार है और सत्वादि गुणों से रहित है वैसेही उन गुणों का भोक्ता और पालक है वह ब्रह्म कहाता है ॥

अतीन्द्रियत्वाद्दुर्ज्ञेयं भूतानामन्तरे बहिः ।
विवेकिनोऽन्तिके दूरेऽज्ञानिनामचरं चरम् ॥२०॥

अर्थ—सूक्ष्म होने से वह नहीं जाना जाता है सब भूतों के बाहर और भीतर वर्तमान है, विवेकियों के निकट है और अज्ञानियों के दूर है, स्थावर जङ्गमरूप वही है॥

अभिन्नं हेतुरूपेण भिन्नं कार्यस्वरूपतः ।
ब्रह्म तत् सर्वभूतानां सर्जकं पातृ नाशकम् ॥२१॥

अर्थ—सर्व भूतों में कारण रूप से अभिन्न है और कार्यरूप से भिन्न की नाईं स्थित है। चराचर भूतों का उत्पत्तिकर्ता पालन करने हारा, तथा प्रलय काल में नाशक वही ब्रह्म है॥

परमज्ञानतमसो ज्योतिषा च प्रकाशकम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानलभ्यं सर्वेषां हृदयस्थितम् ॥२२॥

अर्थ—वह परब्रह्म अज्ञानरूपी अन्धकार से परे है और प्रकाशकों का भी प्रकाशक है। ज्ञान ज्ञेय, ज्ञान से प्राप्त करने योग्य और संपूर्ण प्राणियों के हृदय में (नियन्ता होकर) स्थित ही परमात्मा है॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसज्ज्ञानज्ञेयान्यत्र समासतः ।
उक्तान्येतानि विज्ञाय ब्रह्मभावमवाप्नुयात् ॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार संक्षेप से क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ ज्ञान और ज्ञेय इनका लक्षण निरूपण किया इनको जानने से विवेकी पुरुष ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है॥

पुरुषप्रकृती द्वावप्यनादी विकृतीर्गुणान् ।
बुद्ध्यादिकांश्च तत्वाद्यान् विद्धि प्रकृतिजान् मुने ।२४।

अर्थ—हे परशुरामजी पुरुष और प्रकृति दोनों को अनादि जानो और बुद्धि आदि विकार तथा सत्व आदि गुणों को प्रकृति से उत्पन्न जानो ॥

प्रकृतिः प्रभवे हेतुः कार्याणां कारणानां च ।
सुखदुःखानां भोगे हेतुः पुरुषः समुद्दिष्टः ॥२५॥

अर्थ—देह आदि कार्य और उसके कारण महत्तत्व आदि इनके उत्पन्न होने में कारण प्रकृति है और सुख दुःख का अनुभव होने में कारण पुरुष है ॥

प्रकृतिस्थ एव पुरुष-
स्तज्जान् सत्वादिकान् गुणान् भुङ्क्ते ।
गुणसङ्ग एव पुंसः
खलु सदसद्योनिजन्मनां हेतुः ॥२६॥
देहेऽस्मिन् परपुरुषः साक्षीव प्रकृतिनिकटः सन् ।
पश्यत्यङ्गीकुरुते वदति जनोऽहं करोमीति ॥२७॥
कर्माणि पोषयति तान्युपभुङ्क्ते चेश्वरस्वरूपोऽसौ ।
एवं पुरुषं प्रकृतिं गुणैश्च सह वेत्ति यः पुरुषः ॥२८॥
आचरति कर्म स यदि त्यक्त्वापि च विधिनिषेधमर्यादाम् ।
लभते चायं न पुनर्जन्मान्यथ मुक्तिमाप्नोति ॥२९॥

अर्थ—पुरुष प्रकृति के कार्य देहादि में स्थित होकर प्रकृतिजन्य सत्वादि गुणों का उपभोग करता है । सत्वादि गुणों का संग होना ही पुरुष को उत्तम अधम योनि में जन्म

लेने का कारण निश्चय से होता है। इस देह में वह परमात्मा प्रकृति के समीप होकर साक्षी की नाईं देखता है और स्वीकार करता है, मनुष्य कहता है कि मैं करता हूं। ईश्वर स्वरूप होने से यह मनुष्य उन कर्मों का पोषण करता है और उपभोग करता है। इस प्रकार जो पुरुष, पुरुष और प्रकृति को गुणों के सहित जानता है वह जो विधि निषेध की मर्यादा त्याग करके भी कार्य करता हो तो भी पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता किन्तु मुक्ति को प्राप्त होता है॥

देहे ध्यानेन मनसा केचित् पश्यन्ति तं विभुम्।
साङ्ख्यज्ञाश्चापि पुरुषप्रकृत्योर्भेदबोधतः॥३०॥
योगनिष्ठास्तथाष्टाङ्गयोगोपासनतो धिया।
परे विहितकर्माणि कुर्वन्तः कर्मयोगतः॥३१॥
प्रोक्तप्रकारैरपरेऽजानन्तो मन्दबुद्धयः।
गुरोः श्रुत्वेशरूपं निश्चित्य मृत्योस्तरन्ति ते॥३२॥

अर्थ—कोई अपने शरीर में उस परमात्मा को ध्यान युक्त हो मन से देखता है सांख्य वाले भी पुरुष और प्रकृति के भेद को जान कर उसको जानते हैं और योग वाले अष्टांगयोग साधन करके बुद्धि से उसको देखते हैं और लोग (कर्मकाण्डी) कर्मयोग से विहित कर्मों को करते हुए उसको जानते हैं और मन्द बुद्धि वाले जो कहे हुए प्रकारों से नहीं जान सकते वे गुरु से ईश्वर का स्वरूप सुन कर उसपर निश्चय रखके संसार रूप मृत्यु से तर जाते हैं॥

यद्यदुत्पद्यते सत्वं पर्शुराम चराचरम् ।
संयोगतस्तत्पुरुषप्रकृत्योर्विद्धि चाखिलम् ॥३३॥

यश्चराचरभूतेषु समव्याप्तं महेश्वरम् ।
वेत्ति नश्यत्स्वनश्यन्तमाप्तुं योग्यं च वेत्त्यसौ ॥३४॥

सर्वत्र समरूपेण स्थितं पश्यति यो विभुम् ।
देहादिना सहानष्टं सोऽथ मुक्तिमवाप्नुयात् ॥३५॥

अर्थ—हे परशुरामजी ! जो कुछ स्थावर जङ्गमात्मक प्राणि उत्पन्न होता है सो सब पुरुष और प्रकृति के संयोग से जानो । जो पुरुष चराचर भूतों में परमात्मा को समान व्याप्त जानता है और भूतों के नाश होने से ईश्वर को नाश रहित जानता है सो पाने योग्य वस्तु को भली भांति जानता है । जो पुरुष परमेश्वर को सर्वत्र समानरूप से स्थित देखता है और देहादिकों के नष्ट होने पर उसको नष्ट नहीं देखता वह इस शरीर छूटने के अनन्तर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

सदसत्कर्मकर्त्रीं यः प्रकृतिं वेत्ति सर्वथा ।
स आत्मानमकर्तारं पश्यन् मोक्षमवाप्नुयात् ॥३६॥
यदा भूतान् पृथग्भूतान् प्रकृतिस्थान् लये ततः ।
सृष्टौ विस्तारितान् पश्येद्ब्रह्मरूपस्तदा भवेत् ॥३७॥

अर्थ—जो पुरुष प्रकृति को सर्वथा शुभ अशुभ कर्मों की करनेवाली जानता है और आत्मा को अकर्ता देखता है सो मोक्ष प्राप्त होता है । जब भिन्न २ प्राणियों को प्रलय के समय

में प्रकृति में स्थित देखता है और सृष्टि के समय में प्रकृति से ही विस्तारित देखता है तब ब्रह्मस्वरूप होजाता है ॥

ईशोऽनादिर्निर्गुणोऽतः शरीरस्थोऽप्यनश्वरः ।
अत एव न कर्ता न लिप्यते कर्मणां फलैः ॥३८॥
सर्वत्र व्याप्तमाकाशं यथा सङ्गान्न लिप्यते ।
देहव्याप्तस्तथात्मापि कर्मभिर्नोपलिप्यते ॥३९॥
रविरेको यथा लोकं प्रकाशयति चाखिलम्ः ।
तथा प्रकाशयत्यात्मा क्षेत्री क्षेत्रमशेषतः ॥४०॥

अर्थ—परमेश्वर अनादि और निर्गुण होने से शरीर में स्थित होकर भी नाशरहित है इसीलिये न वह कर्मों का कर्ता है और न वह कर्मों के फलों से लिप्त होता है। जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश औरों के संग से लिप्त नहीं होता वैसेही शरीर में व्याप्त आत्मा भी कर्मों से लिप्त नहीं होता। जैसे अकेला सूर्य संपूर्ण लोक को प्रकाशित करता है वैसे ही संपूर्ण क्षेत्र (शरीर) को क्षेत्री आत्मा प्रकाशित करता है ॥

यः क्षेत्रज्ञक्षेत्रयोः पश्यतीत्थं
भेदं ज्ञानाक्षणाथ मोक्षं प्रकृत्याः ।
भूतानां ध्यानाद्युपायैश्च वेद
मायामुक्तोऽसौ परं स्थानमेति ॥४१॥

अर्थ—जो पुरुष इस प्रकार से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को ज्ञान रूपी नेत्रों से देखता है और ध्यानादि उपायों से

प्राणियों का प्रकृति से अलग होना वा उत्पन्न होना जानता है वह माया से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त होता है ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां अष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥



जनक उवाच—

ज्ञानं वक्ष्यामि च तपःकर्मादिभ्यो यदुत्तमम् ।
ज्ञात्वा यद्दृषयः सर्वे मुक्ता आपुः परं पदम् ॥१॥

अर्थ—जनकजी कहते हैं, हे परशुरामजी ! तप कर्म आदियों से उत्तम जो ज्ञान है वह भी कहता हूं सब ऋषि लोग जिसको जान कर मुक्त हो परमपद को प्राप्त हुए ॥

ब्रह्मण्यवाप्य यज्ज्ञानं लीनाः स्युस्ते पुनः सृतौ ।
नोत्पद्यन्ते लभन्ते न प्रलयानेहसि व्यथाम् ॥२॥

अर्थ—जिस ज्ञान को प्राप्त होके जो ब्रह्म में लय हो जाते हैं वे पुरुष पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होते और प्रलय समय में व्यथा को नहीं प्राप्त होते ॥

यत्कार्यब्रह्म सा योनिः प्रकृतिर्धारयत्यसौ ।
शक्तिमुत्पादिकां सर्वभूतानां संभवस्ततः ॥३॥
उत्पद्यन्ते मूर्तयो याः सर्वयोनिषु तत्र च ।
ज्ञेयं योनिर्महद्ब्रह्म पिता सद्ब्रह्म बीजदः ॥४॥

अर्थ—जो कार्य ब्रह्म प्रकृति है वह योनि है यह उत्पादक शक्ति को धारण करती है उसीसे सर्वभूतों की उत्पत्ति होती है। सपूर्ण योनियों में जो मूर्तियां उत्पन्न होती हैं वहां महद्ब्रह्म (प्रकृति) योनि है और सद्ब्रह्म बीज देनेवाला पिता है ऐसा जानो॥

गुणाः प्रकृतिजाः सत्वं रजस्तम इति त्रयः ।
शरीरे ते निबध्नन्ति शरीरस्थमनश्वरम् ॥५॥

अर्थ—प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रज, तम ये तीन गुण हैं वे शरीर में रहने वाले अविनाशी (आत्मा) को शरीर में बंधन करते हैं॥

त्रिषु प्रकाशकं सत्वं नैर्मल्यान्निरुपद्रवम् ।
बध्नाति ज्ञानसुखयोः पर्शुरामातिसङ्गतः ॥६॥
तृष्णास्त्रीधनसङ्गोत्थं विषयप्रीतिकृद्रजः ।
बध्नाति कर्मसङ्गात् तत् पर्शुराम शरीरिणम् ॥७॥
अज्ञानोत्थं तमः सर्वदेहिनां विद्धि मोहनम् ।
निद्रालस्यप्रमादानां सङ्गात् तद्बन्धकारकम् ॥८॥

अर्थ—तीनों गुणों में सत्वगुण निर्मल होने से प्रकाश करने वाला और उपद्रव रहित है। यह ज्ञान और सुख के अति संग से बन्धन करता है। तृष्णा स्त्री धन इनके संग से उत्पन्न रजोगुण विषयों में प्रीति उपजाने वाला है यह कर्म के अति सग से प्राणि को बन्धन करता है। अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण सब प्राणियों को मोहनेवाला है यह निद्रा आलस्य प्रमाद

इनके अतिसंग से बन्धन करता है। हे परशुराम जी! ऐसा जानो॥

सुखासक्तिकरं सत्वं कर्मासक्तिकरं रजः।
सर्वतो ज्ञानमावृत्य प्रमादासक्तिकृत् तमः॥९॥

अर्थ—सत्वगुण पुरुष को सुख में आसक्त करता है, रजोगुण कर्म में आसक्त करता है और तमो गुण चारों ओर से ज्ञान को घेर कर प्रमाद में आसक्त करता है॥

वर्धते सङ्गकृत्सत्वमभिभूय रजस्तमः।
रजश्च सत्वतमसी रजःसत्वे तमस्तथा॥१०॥

अर्थ—आसक्त करने वाला सत्व गुण रज और तम को जीत कर बढ़ता है। यों ही आसक्त करने वाला रजोगुण सत्व और तम को जीतकर बढ़ता है। और आसक्त करने वाला तमोगुण सत्वगुण और रजोगुण को जीत कर बढ़ता है॥

श्रोत्रादिद्वारेषु शब्दादेर्ज्ञानं सम्यक् प्रकाशते।
यदा तदैव जानीयाद्देहे सत्वं विवर्धते॥११॥
रजोविवृद्धावशम इच्छारम्भश्च कर्मणाम्।
लोभः प्रवृत्तिः संकल्पविकल्पोत्थानमेवच॥१२॥
विवेकनाशोऽनुद्योगस्त्यागः कर्तव्यकर्मणाम्।
मोहः प्रमादस्तमसि वर्धमाने च जायते॥१३॥

अर्थ—श्रोत्र आदि सब द्वारों में (इन्द्रियों में) जब शब्द आदि का ज्ञान उत्तम प्रकार से प्रकाशित होता है तब

देह में सत्वगुण बढ़ रहा है ऐसा जानना, रजो गुण के बढ़ने के समय अशान्ति, कर्म करने की इच्छा और आरम्भ, लोभ, प्रवृत्ति और मन में संकल्प विकल्प उठते है। तमो गुण बढ़ते रहते विवेक का नाश, अनुद्योग, कर्तव्य कर्मों का त्याग, मोह और प्रमाद होता है॥

देही सत्वे प्रवृद्धे तु यदैति प्रलयं तदा।
उपैति निर्मलान्न लोकानुतमज्ञानभागिनाम् ॥१४॥
जायते कर्मिणां लोके रजसि प्रलयं गतः।
जायते मोहयुक्तानां लोके लीनस्तमस्यपि ॥१५॥

अर्थ—देही सत्वगुण के बढ़ने पर जब प्रलय (मरण) को प्राप्त होता है तब उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोकों में प्राप्त होता है (जन्म लेता है) रजोगुण बढ़ने पर प्रलय को प्राप्त हो तो कर्मवालों के लोक में और तमोगुण बढने पर प्रलय को प्राप्त हो तो मूढ़ (नीच) लोगों के लोक (योनि) में प्राप्त होता है॥

स्यान्निर्मलं ज्ञानफलं सात्विकं पुण्यकर्मणः।
दुःखं रजोगुणफलमज्ञानं तु तमःफलम् ॥१६॥

अर्थ—पुण्य कर्म का सत्वगुणप्रधान निर्मल ज्ञानरूप फल होता है। रजोगुण का फल दुःख होता है और तमोगुण का फल अज्ञान होता है॥

ज्ञानमुत्पद्यते सत्वाल्लोभः स्यात्तु रजोगुणात्।
प्रमादाज्ञानमोहास्तु तमसः संभवन्ति च ॥१७॥

अर्थ—सत्वगुण से ज्ञान रजोगुण से लोभ और तमोगुण से प्रमाद अज्ञान और मोह उत्पन्न होता है।

हिरण्यगर्भलोके तु सात्विका यान्ति राजसाः।
दुःखं समुपभुञ्जाना मृत्युलोकं प्रयान्ति च ॥१८॥
निकृष्टयोनीः संप्राप्तास्ते तमोगुणवृत्तयः।
कालसूत्रादिनरकान् प्रयान्त्यशुचयोऽधमाः ॥१९॥

अर्थ—सात्विक गुणवाले हिरण्यगर्भ लोक (सत्य-लोक) को प्राप्त होते हैं। रजोगुण वाले दुःख को भोगते हुए मृत्युलोक में प्राप्त होते हैं। और तमोगुण वाले अपवित्र नीच निकृष्ट योनि में प्राप्त हो के कालसूत्र आदि नरकों में जाते हैं॥

यदा विवेकी कर्त्तारं गुणेभ्योऽन्यं न पश्यति।
तत्परं साक्षिणं वेत्ति स परात्मनि लीयते ॥२०॥
देही देहोद्भवानेतानतीत्य त्रीन् गुणान् स्थितः।
जन्मव्याधिजरामृत्युमुक्तो ब्रह्माधिगच्छति ॥२१॥

अर्थ—जब विवेकी पुरुष गुणों से अतिरिक्त कर्त्ता को नहीं देखता किन्तु गुणों ही को कर्त्ता जानता है और उनसे पर साक्षी को जानता है वह परमात्मा में लीन होता है। देही पुरुष इस देह से उत्पन्न तीनों गुणों का अतिक्रमण करके जन्म, व्याधि, जरा और मृत्यु इन अवस्थाओं से मुक्त होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है॥

परशुराम उवाच—

त्रिगुणातीतलिङ्गानि कान्याचरति किं च सः ।
त्रीन् गुणानतिवर्तेत कथमेतान् वदाशु मे ॥२२॥

अर्थ—परशुरामजी बोले हे राजन् ! जिसने तीनों गुणों को अतिक्रमण किया है उसके चिन्ह क्या हैं। वह कैसा आचरण करता है और तीनों गुणों को अतिक्रमण कैसे करना अर्थात् तीनों गुणों के कतिक्रमण करने का उपाय क्या है वह मुझसे कहो ॥

जनक उवाच—

सत्वात्प्रकाशं रजसः प्रवृत्तिं मोहमन्यतः ।
प्रवृत्तं द्वेष्टि नो चिन्हं तन्निवृत्तं न काङ्क्षति ॥२३॥
गुणैरकम्पितः सन् य उदासीन इव स्थितः ।
गुणस्वभावं विज्ञायातिगुणो भवति स्थिरः ॥२४॥

अर्थ—जनकजी परशुरामजी से कहते हैं कि सत्वगुण का कार्य प्रकाश रजोगुण का का कार्य प्रवृत्ति और तमोगुण का कार्य मोह है। प्रवृत्त हुए इन तीनों से जो द्वेष नहीं करता और निवृत्त हुओं की इच्छा नहीं करता जो गुणों से कम्पायमान न होकर उदासीन की नाईं रहता है और गुणों का वर्तमान स्वभाव जान कर स्थित रहता है यह गुणातीत का चिन्ह है ॥

सुखदुःखे समे वेत्ति धैर्यवान् स्वस्थमानसः।
समानि पश्यति स्वर्णाश्मलोष्टानि स्वभावतः॥२५॥

स्यातां समाने सर्वत्र यदभ्याशे प्रियाप्रिये ।
समा निन्दास्तुतीर्वेत्ति स गुणातीत उच्यते ॥२६॥
मानापमानौ मित्रारिपक्षौ तुल्यौ च वेत्ति यः ।
यस्त्यजत्यखिलोद्योगान् गुणातीतः स उच्यते॥२७॥

अर्थ—जो पुरुष सुख और दुःख को समान जानता है धैर्यवान् और स्वस्थ चित होता है सोना पत्थर और मिट्टी के ढेले को स्वभावतः समान देखता है जिसके निकट प्रिय और अप्रिय सर्वत्र समान होता है निन्दा और स्तुति को समान जानता है वह गुणातीत कहाता है। मान अपमान मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष दोनों को जो समान जानता है और संपूर्ण उद्योगों को त्याग करता है वह गुणातीत कहाता है। इन श्लोकों से गुणातीत के आचरण कहे॥

सेवेत यः परात्मानमेकाग्रया
सद्धिया भक्तियोगातिशय्यर्थया ।
त्रीन् गुणानप्यतिक्रम्य पारं गतो
ब्रह्मभूयत्वमाप्नोत्यसावञ्जसा ॥२८॥

अर्थ—जो पुरुष भक्तियोग से अत्यन्त बढ़ी हुई एकाग्र बुद्धि से परमात्मा की सेवा करता है वह तीनों गुणों को भी अतिक्रमण करके उनके पार होकर सुख से ब्रह्म रूप को प्राप्त होता है। यह गुणातीत होने का उपाय है॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां अष्टादशः सर्गः ॥१८॥

जनक उवाच—

संसाराश्वत्थवृक्षस्य सोऽव्ययः पुरुषोत्तमः ।
मूलमूर्द्ध्वमधस्तस्य प्रवाहत्वादनादयः ॥१॥
शाखा हिरण्यगर्भाद्या यत्तु कर्मफलादिकम् ।
श्रुतिभिः प्रतिपाद्यं तद्यस्य पर्णत्वमाश्रितम् ॥२॥
संसाररूपमश्वत्थमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
स एव वेद वेदार्थं पूर्णमत्र न संशयः ॥३॥

अर्थ—जनक राजा परशुरामजी से बोले कि यह संसार रूपी पीपल का वृक्ष जिसकी जड़ जो ऊपर है वही उत्पत्ति नाश रहित पुरुषोत्तम है। और नीचे उसका प्रवाह होने से अनादि ऐसे हिरण्यगर्भ आदि जिसकी शाखा हैं और उसके पत्ते वेद करके प्रतिपादित (कहे हुए) कर्मफल आदि हैं। जो ऐसे संसार रूपी पीपल को ठीक ठीक जानता है वही वेद के अर्थ को पूरा जानता है इसमें सन्देह नहीं॥

प्राप्ताः पश्वादिकां योनिं ये च दुष्कृतिनो जनाः ।
ता अधः प्रसृताः शाखाः प्राप्ता देवादियोनिषु ॥४॥
जनाः सुकृतिनश्चोर्द्ध्वं तच्छाखाः प्रसृता इह ।
ताः सत्वादिगुणैर्बद्धा रूपादिविषयाङ्कुरैः ॥५॥
नृलोके व्याप्तमूर्द्ध्वाधो मूलं कर्मानुसारि च ।
अस्मिन् जगति संसार रूपिपिप्पलमूलकम् ॥६॥
ऊर्ध्वं तथाधः शाखादिरूपं नास्यावलोक्यते ।
आदिरन्तः स्थितिर्वापि न काप्यस्योपलभ्यते ॥७॥

अर्थ—जो पापी लोग पशु आदि योनि में प्राप्त हुए हैं वे नीचे फैली हुई शाखा हैं। और जो पुण्यवान् लोग देव आदि योनियों में प्राप्त हुए हैं वे ऊपर फैली हुई शाखा हैं और वे शाखाएं सत्त्व आदि गुणों से बंधी हुई हैं रूप आदि विषय उसके अंकुर हैं और कर्मानुसार इसकी जड़ मनुष्य लोक में ऊपर और नीचे व्याप्त है। इस जगत् में संसार रूपी पीपल का मूल ऊपर और नीचे इसका शाखादिरूप नहीं देख पड़ता वैसेही इसका आदि अन्त और इसकी स्थिति भी कहीं नहीं जान पड़ती॥

दृढेनासङ्गशस्त्रेणच्छित्वाश्वत्थं दृढाङ्घ्रिकम् ।
ततस्तमादिपुरुषं प्रपन्न इति रीतितः ॥८॥
उद्युक्तः स्यादलभ्यस्य प्राप्त्यै परमवस्तुनः ।
तथा तदेवं वस्तूर्ध्वं यस्मिन् लीनो न जन्मभाक् ॥९॥
संसारस्य यतोऽनादेर्या प्रवृत्तिरमुष्य च ।
साचानेकप्रकारेण वर्त्स्यमानेति निश्चयः ॥१०॥

अर्थ—दृढ़ मूलवाले पीपल को असङ्ग रूपी शस्त्र से काट के फिर उस आदिपुरुष के शरणागत मैं हूं इस विधि से उस अलभ्य परमवस्तु की प्राप्ति के लिये वैसा उद्योग करे जैसे कि वह ऐसी वस्तु ऊपर है जिसमें लय होने से फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता। उद्योग करने का कारण यह है कि इस अनादि संसार की जो प्रवृत्ति है वह अनेक प्रकार से बढ़ने वाली है यह निश्चय है।

हीना मोहाभिमानाभ्यां सदात्मज्ञानतत्पराः ।
रागादिदोषजेतारो निवृत्ताः कामनादितः ॥११॥
शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वेषु समबुद्धयः ।
विवेकिनो लभन्ते स्म तन्मोक्षपदमव्ययम् ॥१२॥

अर्थ—मोह और अभिमान से रहित सर्वदा आत्मज्ञान में तत्पर, राग आदि दोष के जीतने वाले, कामना आदि से निवृत्त, शीत उष्ण सुख दुःख इत्यादि द्वन्द्व पदार्थों को समान जानने वाले, विवेकी पुरुष उस अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त होते हैं॥

यत्र सूर्यो भासयते चन्द्रोऽग्निश्चाथ योगिनः ।
निवर्तन्ते न यं प्राप्य तत् सद्धाम विवेकिनः॥१३॥

अर्थ—सूर्य चन्द्र और अग्नि जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते योगी लोग जिसको पाकर फिर नहीं फिरते वह उत्तम धाम विवेकी पुरुष का है॥

जीवरूपे स्थितोंऽशोऽयमनादौ परमात्मनः ।
तथापि जीवं संसारे भोगार्थं विषयेषु च ॥१४॥
मनःषष्ठेन्द्रियगणः प्रकृतिस्थोऽपकर्षति ।
यदैकदेहं संत्यज्य देही देहान्तरं व्रजेत् ॥१५॥
इन्द्रियाणि गृहीत्वैति पुष्पगन्धानिवानिलः ।
घ्राणजिह्वाक्षिकर्णत्वङ्मनांसीतीन्द्रियाणि षट् ॥१६॥

आश्रित्य जीवो गन्धादिविषयानुपसेवते ।
त्यक्त्वैकमन्यमाश्रित्य शरीरमुपसेवते ॥१७॥
विषयानिन्द्रियैः षड्भिः साकमेवावतिष्ठते ।
पश्यति ज्ञानदृष्ट्यैवं विवेकी न तु मूढधीः ॥१८॥

अर्थ—यह अनादि, जीवस्वरूप में स्थित परमात्मा का अंश है तथापि संसार में भोग के लिये मन आदि छः इन्द्रिय प्रकृति में स्थित होकर जीव को अपने अपने विषय की ओर खींचते हैं। देही एक देह को त्याग कर जब दूसरे देह में प्राप्त होता है तब इन्द्रियों को अपने साथ लेजाता है। जैसे वायु फूलों के सुगन्धों को ले जाता है। नाक जीभ आंख कान चमड़ा और मन इन छःओं इन्द्रियों को आश्रय करके गन्ध आदि विषयों का अनुभव करता है। जीव एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर का आश्रय कर विषयों का अनुभव करता है और छः इन्द्रियों के साथ ही रहता है ऐसा विवेकी पुरुष ज्ञानदृष्टि से देखते हैं मूर्ख लोग नहीं देखते ॥

यत्नाद्देहस्थमात्मानं योगात् पश्यन्ति योगिनः ।
विवेकज्ञानहीना न यत्नतोऽप्यविवेकिनः ॥१९॥
सूर्ये चन्द्रेऽनले तेजः स्थितं भासयते च यत् ।
जगत् समग्रं तत् तेजो जानीहि परमात्मनः ॥२०॥

अर्थ—योगी लोग योगाभ्यास से प्रयत्न करते हुए देह में स्थित आत्मा को देखते हैं और विवेकज्ञान से हीन अविवेकी लोग यत्न करते हुए भी नहीं देख सकते। जो तेज सूर्य

चन्द्र और अग्नि में स्थित होकर संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है वह तेज परमात्मा का जानो ॥

धारयत्योजसा भूतानाविश्योर्वीं चराचरान् ।
सोऽज्ञो रसात्मको भूत्वा पुष्णाति सकलौषधीः ।२१।
स प्राणापानवायुभ्यां संयुक्तो जाठराऽनलः ।
प्राणिदेहस्थितो भूत्वा पचत्यन्नं रसैर्युतम् ॥२२॥
भक्ष्यं भोज्यं तथा लेह्यं चोष्यं चेति चतुर्विधम् ।
स चान्तर्यामिरूपेण सर्वप्राणिहृदि स्थितः ॥२३॥
स्मृतिं व्यतीतवस्तूनां पदार्थज्ञानविस्मृती ।
करोति स चतुर्वेदैस्तत्तद्दैवतरूपतः ॥२४॥
उपास्यः शास्त्रवेदान्तसंप्रदायप्रवर्तकः ।
परमात्मा कृत्स्नवेदविज्ञातापि स एव हि ॥२५॥

अर्थ—वह परमात्मा पृथ्वी में स्थित होकर चराचर प्राणियों को धारण करता है,वही रसस्वरूप चन्द्र होकर संपूर्ण औषधियों को पोषण करता है, वही जठराग्नि रूप प्राणियों के देह में स्थित होकर प्राण और अपान दोनों वायुओं से मिल कर भक्ष्य भोज्य लेह्य और चोष्य इन चारों प्रकार के षड्रस संयुक्त अन्न को पाचन करता है, वह संपूर्ण प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर गत वस्तुओं का स्मरण तथा पदार्थ का ज्ञान और उनका विस्मरण करता है। यह चारों वेदों से उस उस देवता के रूप से उपासना करने

योग्य है। और शास्त्र तथा वेदान्त के संप्रदाय का चलानेवाला और संपूर्ण वेद का जानने वाला वही परमात्मा है ॥

क्षराक्षरौ द्वौ जगति पुरुषौ तत्र चाक्षरः ।
मायाश्रितः परेशः स्यात् सर्वभूतानि च क्षरः ॥२६॥
परमात्मा द्वयोरन्यः पुरुषोत्तम ईरितः ।
योऽविनाशीश्वरत्वेन पाति व्याप्य जगत्त्रयम् ॥२७॥

अर्थ—जगत् में क्षर अक्षर दो पुरुष हैं। उनमें से मायाश्रित परमेश्वर अक्षर है और संपूर्ण प्राणी क्षर हैं। इन दोनों से भिन्न पुरुषोत्तम परमात्मा कहाता है जो तीनों लोकों को व्याप्त करके अविनाशी ईश्वर रूप से पालन करता है ॥

यतः स नाशरहित उत्तमश्चाक्षरादपि ।
ततो लोके च वेदे च पुरुषोत्तम ईर्यते ॥२७॥
एवं मोहविहीनो भजते यः सर्वभावेन ।
पुरुषोत्तमं स भक्तो जानात्यपि सर्ववित् स एवात्र ।२८।

अर्थ—वह जिस कारण से नाशरहित और अक्षर से भी श्रेष्ठ है इसलिये वेद और लोक में भी पुरुषोत्तम कहाता है जो इस प्रकार से मोहरहित होकर पुरुषोत्तम को सर्वभाव से भजता है वही भक्त उसको जानता है और सर्वज्ञ भी है ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनकपरशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां विंशः सर्गः ॥ २० ॥

जनक उवाच—

अभयं सर्वजीवेभ्यः सत्वशुद्धिरथो रतिः ।
अभ्यासे ज्ञानयोगस्य दानमिन्द्रियनिग्रहः ॥१॥
यज्ञोऽथ वेदाध्ययनं तपोऽकपटचारिता ।
रागादिहानमक्रोधोऽप्यहिंसा सत्यवादिता ॥२॥
अलोभिता तथा शान्तिर्दया भूतेष्वपैशुनम् ।
मृदुस्वभावता स्थैर्यं लज्जा निन्दितकर्मसु ॥३॥
शौचं धैर्यं क्षमा तेजोऽद्रोहोनिरभिमानिता ।
दैवीसंपदि जातानां भवन्त्येते नृणां गुणाः ॥४॥

अर्थ—जनकजी बोले कि संपूर्ण प्राणियों से निर्भय होना, सत्यगुण प्रधान होना, ज्ञानयोग के अभ्यास में तत्पर होना, दान करना, इन्द्रियों का निग्रह करना, यज्ञ वेदाध्ययन और तप करना, कपट छोड़ के व्यवहार करना, राग (अनुराग) आदि का त्याग करना, क्रोध नहीं करना, हिंसा नहीं करनी, सत्य बोलना, लोभ नहीं करना, शान्ति रखना, प्राणियों पर दया रखनी, चुगली नहीं खाना, कोमल स्वभाव रखना, स्थिर स्वभाव रखना, निन्दित कर्मों से लज्जा करना, पवित्रता और धैर्य रखना, क्षमा करना, तेज (प्रभाव) रखना, द्रोह रहित होना, और अभिमान नहीं करना ये दैवी संपत्ति में उत्पन्न पुरुषों के गुण होते हैं ॥

क्रोधोऽभिमानः पारुष्यं दर्पोऽज्ञानं च दम्भिता ।
जातानामासुरीसंपद्येते नृणां भवन्ति च ॥५॥

अर्थ—क्रोध, अभिमान, कठोर भाषण ताड़न आदि, दर्प, अज्ञान, दम्भ, ये आसुरी संपत्ति में उत्पन्न पुरुषों के गुण होते हैं ॥

दैवी संपन्मुक्तिहेतुरासुरी बन्धकारणम् ।
दैवी संपदि जातोऽसि शुचः परशुराम मा ॥६॥
इहोत्पत्तिर्द्विधा दैवी चासुरी कथिता बुधैः ।
प्रोक्ता विस्तरतो दैवी मत्तः शृण्वधुनासुरीम् ॥७॥

अर्थ—दैवी संपत्ति मुक्ति का और आसुरी संपत्ति बन्ध का कारण है। हे परशुराम जी तुम दैवी संपत्ति में उत्पन्न हो इसलिये शोक मत करो। यहां दैवी और आसुरी दो प्रकार की उत्पत्ति बुद्धिमानों ने कही है उसमें दैवी संपत्ति विस्तार से तुम को कही अब आसुरी संपत्ति को कहता हूं सो मुझसे सुनो।

पापान्निवृत्तिं न विदुः प्रवृत्तिं धर्म आसुराः ।
तेषु पावित्र्यमाचारः सत्यं चापि न विद्यते ॥८॥
निरीश्वरमसत्यं ते जगत्प्राहुर्निराश्रयम् ।
नान्य उत्पादकोऽस्यास्ति स्त्रीपुंसंयोगजं ह्यदः ॥९॥
इति नास्तिकदृष्टिं तमाश्रित्यात्पधियोऽहिताः ।
नीचोग्रकर्माचरणात् स्युर्जगन्नाशहेतवः ॥१०॥

अर्थ—आसुरी संपत्ति वाले पुरुष धर्म में प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति नहीं जानते, उनमें पवित्रता आचार और

सत्य भी नहीं रहता, वे लोग जगत् को परमेश्वर रहित असत्य और निराश्रय कहते हैं, जगत् का कोई दूसरा उत्पन्न करने वाला नहीं हैं यह स्त्री पुरुष के संयोग से है, ऐसा मानते हैं। वे अल्पबुद्धि अकल्याण पुरुष ऐसी नास्तिक दृष्टि का आश्रय करके नीच और उग्र कर्म के आचरण करने से जगत् के नाश के कारण होते हैं॥

कामो न पूर्यते जातु येषा दम्भमदोद्धताः ।
अविवेकाद्दुराचारा मानिनोऽशुचिवृत्तयः ॥११॥
चिन्तां प्रलयपर्यन्तामगणेयामुपाश्रिताः ।
परं पुमर्थं मन्वानाः कामभोगान् हि केवलम् ॥१२॥
कामक्रोधानुरक्ताश्च शताशापाशबन्धनाः ।
कामभोगार्थमन्यायादर्थसंग्रहणेप्सवः ॥१३॥
इदं लब्धं मयाद्यैतान् लप्स्ये निजमनोरथान् ।
ममैतदेतदपि मे प्राप्स्येऽथ वहुधा धनम् ॥१४॥
मयायैप हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरान् रिपून् ।
अहमेवेश्वरः सिद्धोऽहं बली भोगभाक् सुखी ॥१५॥
धनवत्त्वे कुलीनत्वे नान्यो मत्सदृशः परः ।
वित्तः शंयुर्यक्ष्यानैरज्ञानेनेति मोहिताः ॥१६॥

अर्थ—जिनकी कामना कभी पूरी नहीं होती, दम्भ मद से भर जाते हैं, अविवेक से निन्दित आचरण करते हैं, अहङ्कार करते हैं, अपवित्र वृत्ति में रहते हैं, प्रलय पर्यन्त चिर-

वधि (अनन्त) चिन्ता में डूबे रहते हैं, केवल कामभोग (मनोरथ) ही को परम पुरुषार्थ मानते हैं, काम और क्रोध में अनुरक्त रहते हैं, सैकड़ों आशाओं के फन्दे में दब जाते हैं, कामभोग के लिये अन्याय से द्रव्य संचय की इच्छा करते हैं, आज मैंने यह धन पाया ये मेरे मनोरथ सिद्ध होंगे, यह धन मेरा है, यह भी मेरा है, अब बहुतसा धन पाऊंगा, इस शत्रु को आज मैंने मारा दूसरे शत्रुओं को भी मारूंगा, मैंही ईश्वर और सिद्ध हूं, मैं बलवान् भोगी और सुखी हूं, धनवान्पने में कुलीनता में मेरे समान दूसरा कोई नहीं हैं। यज्ञ और दान से प्रतिष्ठित और कल्याणयुक्त मैंही हूं। आसुरी संपत्तिवाले पुरुष ऐसे अज्ञान से मोहित होते हैं॥

मोहजालावृताश्चितभ्रान्त्यानेकप्रकारया।
कामभोगेषु संसक्ताः पतन्ति निरयेऽशुचौ ॥१७॥
मन्यन्ते श्रेष्ठमात्मानमनम्रा मदसंयुताः।
अभिमानेन च युता धनाधिकतयानिशम् ॥१८॥
नामयज्ञैर्यजन्ति स्म प्रतिष्ठामात्रकारणात्।
दम्भमाश्रित्य वेदोक्तविधीन्नैवाचरन्ति ते ॥१९॥
कामदर्पबलक्रोधाहन्तायुक्ता द्विषन्त्यपि।
ईशं स्वपरदेहेषु निन्दन्ति च विवेकिनः ॥२०॥
संसारेष्वशुभानेतान् द्विषन् क्रूरान् नराधमान्।
नियुङ्क्ते कृमिकीटादियोनिजन्मसु चेश्वरः ॥२१॥

अर्थ—अनेक प्रकार की चित्त की भ्रांति से मोह रूपी

जाल में घिरे रहते हैं और कामभोग में आसक्त होकर अप-
वित्र नरक में पड़ते हैं। अपने को श्रेष्ठ मानते हैं, किसी से नमते
नहीं, मदान्ध होते हैं, धन के अधिक होने से सर्वदा अभिमान
से युक्त होते हैं, केवल प्रतिष्ठा के कारण दम्भ का आश्रय करके
राम राम, शिवशिव इत्यादि नामयज्ञ ही से यजन करते हैं
वेदोक्त विधि का आचरण नहीं करते, काम दर्प (घमंड) बल
क्रोध और अहंकार करके युक्त होकर अपने पराये शरीर में
वर्तमान परमात्मा से द्वेष करते हैं तथा जो शरीर में परमात्मा
को मानता हो उस विवेकी पुरुष की निन्दा करते हैं। इन
अशुभ कर्मकारी द्वेषी क्रूर अधम पुरुषों को परमेश्वर संसार में
कृमि कीट आदि योनि के जन्म में नियोग करता है॥

ते मूढाः कृमिकीटादियोनौ जन्मनिजन्मनि।
परमात्मानमप्राप्य मुहुर्यान्त्यधमां गतिम् ॥२२॥

अर्थ—वे आसुरीसंपत्तिवाले जन्मजन्म में कृमि कीट
आदि योनि में मोह को प्राप्त होकर परमात्मा को न पाकर
वारंवार अधमगति को प्राप्त होते हैं॥

कामः क्रोधश्च लोभश्च विवेकज्ञाननाशकम्।
त्रिधैव नरकद्वारं तत्त्याग उचितस्ततः ॥२३॥
एतैस्त्रिभिस्तमोद्वारैर्विमुक्तः श्रेय आत्मनः।
य आचरेत् स्मरन्नीशं स मोक्षगतिमाप्नुयात् ॥२४॥
ये तु शास्त्रविधींस्त्यक्त्वा चरन्ति च मनोमतम्।
न ते सिद्धिं सुखं मोक्षं प्राप्नुवन्ति कदाचन ॥२५॥

अर्थ—काम क्रोध और लोभ, विवेक ज्ञान के नाश करने वाले ये तीनही नरक के द्वार हैं इसलिये इन तीनों का त्याग करना उचित है। जो पुरुष इन तीन तम के द्वारों से अलग होकर परमेश्वर का स्मरण करता हुआ अपने कल्याण का आचरण करता है वह मोक्ष गति को प्राप्त होता है। और जो शास्त्र विहित विधियों को त्याग करके मनमाना अनुष्ठान करते हैं वे सिद्धि सुख और मोक्ष इनको कदापि नहीं पाते॥

इदं हि कर्तव्यमकार्यमेतत्
प्रमाणमत्रागम एव नान्यत्।
तस्माद्भवान् शास्त्रविधौ सदुक्तं
ज्ञात्वैव कर्माचर पर्शुराम ॥२६॥

अर्थ—हे परशुरामजी! यह कर्तव्य है यह नहीं करने का है इस स्थान में शास्त्रही प्रमाण है दूसरा नहीं है। इसलिये तुम शास्त्र विधि में उत्तम प्रकार से जो कहा है उसको जान करके ही कर्म का आचरण करो॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक-
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायामेकविंशः सर्गः॥२१॥



परशुराम उवाच—

त्यक्त्वा शास्त्रविधानं तु श्रद्धायुक्ता यजन्ति ये ।
सत्वं रजस्तमस्तेषां परिणामे भवेत् किमु ॥१॥

अर्थ—परशुरामजी बोले कि हे जनकजी ! जोलोग शास्त्र-विधि को त्याग कर श्रद्धायुक्त हो यज्ञ करते हैं उनको परिणाम में सत्व, रज अथवा तम कौन गुण प्राप्त होता है ।

जनक उवाच—

स्वभावतस्तु त्रिविधा श्रद्धा भवति देहिनाम् ।
सात्विकी राजसी श्रद्धा तामसी शृणु ताः पृथक्॥२॥

अर्थ—जनक जी कहने लगे कि प्राणियों को सात्विकी राजसी तामसी तीन प्रकार की श्रद्धा स्वभाव से होती है उन को अलग अलग सुनो ॥

मुने भवति सर्वस्य श्रद्धा सत्वानुसारिणी ।
श्रद्धावन्तो नराश्चातो यो यच्छ्रद्धः स तद्गुणः ॥३॥
सुरान् यजन्ति सत्वस्था राजसा यक्षराक्षसान् ।
यजन्ति तामसाश्चापि भूतप्रेतगणानिह ॥४॥

अर्थ—हे परशुराम जी ! सब मनुष्यों की श्रद्धा अपने २ सत्व के अनुसार होती है इसलिये मनुष्य श्रद्धावान् कहाते हैं। उनमें जो सात्विक राजस तामस जिस श्रद्धावाला होता है वह सात्विक राजस तामस गुण वाला कहाता है । सत्वगुणी पुरुष देवता का पूजन रजोगुणी यक्ष और राक्षसों का पूजन और तमोगुणी यहां भूत प्रेतगणों का पूजन करते हैं ॥

घोरं तपस्तपन्ति स्म ये शास्त्राविहितं जनाः ।
युताश्च दम्भाहङ्कारकामरागदुराग्रहैः ॥५॥
उपवासादिनियमैः कर्षयन्ति तनुस्थितम् ।
पृथ्व्यादिपञ्चभूतानां समूहं त्वीदृशा जनाः ॥६॥
अवज्ञाय परात्मानं व्यापकं सर्वदेहगम् ।
तमोगुणप्रधानांश्च तान् जानीह्यविवेकिनः ॥७॥

अर्थ—जो लोग शास्त्र में अकथित घोर तपस्या करते हैं और दम्भ अहङ्कार काम राग तथा दुराग्रहों से युक्त हैं वैसेही उपवास आदि नियमों से शरीरस्थित पृथिवी आदि पंचभूतों के समूह को ऐसे लोग सुखाते हैं और सर्व शरीर गत व्यापक परमात्मा को नहीं जानते हैं उन अविवेकी पुरुषों को तमोगुण प्रधान जानो ॥

त्रिधाहारोऽपि सर्वस्य प्रियो भवति देहिनः ।
दानं यज्ञस्तपश्चापि तेषां भेदानिमान् शृणु ॥८॥

अर्थ—सब प्राणियों को तीन प्रकार का आहार भी प्रिय होता है। ऐसेही दान यज्ञ तप भी तीन २ प्रकार के प्रिय होते हैं उनके इन भेदों को सुनो ॥

सुरसाः स्निग्धा हृद्या
बलायुरारोग्य सुसुखसत्वमुदाम् ।
संवर्धकाः स्थिरा अपि
चाहाराः सात्विकप्रिया लोके ॥९॥

आहाराः कटुलवणा-
म्लतीक्ष्णरूक्षा विदाहिनोऽत्युष्णाः ।
शोकामयदुःखानां
कर्तारो राजसस्येष्टाः ॥१०॥
अपवित्राः पर्युषिता उच्छिष्टा यातयामाश्च ।
दुर्गन्धयो गतरसा आहारास्तामसस्येष्टाः ॥११॥

अर्थ—उत्तम रसवाले, स्नेह युक्त, चित्त को सन्तोष देने वाले, बल आयु आरोग्यता उत्तमसुख शक्ति और प्रीति के बढ़ाने वाले और चिरकाल रस रूप से शरीर में स्थित ऐसे आहार लोक में सत्वगुण वाले को प्रिय हैं। कड़वे खारे, खट्टे तीखे रूखे जलन को उत्पन्न करने वाले बहुत गरम और शोक रोग दुःख को करने वाले आहार रजोगुण वाले को प्रिय हैं। अपवित्र, बासी, जूठे जिनके पकने पर प्रहर बीत गया हो दुर्गन्ध युक्त बिना रस के आहार तमोगुणवाले को प्रिय हैं॥

शास्त्रानुसारं कर्तव्य इति मानसनिश्चयात् ।
फलेच्छारहितो यज्ञ इज्यते यः स सात्विकः ॥१२॥
कृत्वा फलाभिसन्धानं दम्भाचारेण वा पुनः ।
लोके य इज्यते यज्ञः स राजस उदाहृतः ॥१३॥
शास्त्रोक्तविधिना हीनः सामग्र्या श्रद्धयापि च ।
दक्षिणामन्त्रहीनश्च यज्ञस्तामस उच्यते ॥१४॥

अर्थ—शास्त्रानुसार यज्ञ अवश्य कर्तव्य है ऐसा मन का

निश्चय करके फल की इच्छा न रखकर जो यज्ञ किया जाता है वह सात्विक यज्ञ कहाता है। फल होने की इच्छा रख कर अथवा दम्भ (कपट) रख के जो यज्ञ कियाजाता है वह राजस कहाता है। शास्त्रोक्त विधि से हीन सामग्री से हीन श्रद्धा से हीन और दक्षिणाहीन मन्त्रहीन जो यज्ञ किया जाता है वह तामस कहाता है॥

सुरविप्रगुरुप्राज्ञपूजा पावित्र्यमार्जवम् ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च शारीरं विद्धि तत्तपः ॥१५॥
सत्यं प्रियं हितं वाक्यं यतो नोद्विजते जनः ।
वेदाद्यभ्यसनं चापि तपो वाङ्मयमुच्यते ॥१६॥
सौम्यता चेतसः शुद्धिर्मौनमिन्द्रियनिग्रहः ।
स्वभावस्य पराशुद्धिरुच्यते मानसं तपः ॥१७॥

अर्थ—देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा पवित्रता सुमार्ग से चलना अहिंसा और ब्रह्मचर्य से रहना यह शरीर सम्बन्धी तप कहाता है। जिससे किसी को दुःख न हो ऐसा सत्य प्रिय और हित वचन जिससे दूसरों को उद्वेग न हो और वेद शास्त्र आदि का अभ्यास करना यह वाणी सम्बन्धी तप है। सौम्य भाव रखना, अन्तःकरण को शुद्ध रखना, मौन अर्थात् व्यर्थ भाषण छोड़ना इन्द्रियों को रोकना स्वभाव को बहुत ही शुद्ध रखना यह मन सम्बन्धी तप है॥

एकाग्रचित्तेन फलाप्रेप्सुना तन् त्रिधा तपः ।
श्रद्धयोत्कृष्टया तप्तं तत्सात्विकमुदाहृतम् ॥१८॥

दम्भाभिमानैः सत्कारप्रतिष्ठार्थं हि यत्कृतम् ।
क्षणिकं तत्तपोऽनित्यं राजसं समुदाहृतम् ॥१९॥
अविवेकतया क्लेशान् सहता क्रियते तपः ।
यत् परेषां विघातार्थमुच्यते तद्धि तामसम् ॥२०॥

अर्थ—एकाग्रचित्त होकर फल की इच्छा न रखकर उत्तम श्रद्धा से जो पूर्वोक्त तीन प्रकार का तप किया है। वह सात्विक तप कहाता है। दम्भ से अभिमान से सत्कार वा प्रतिष्ठा के लिये जो तप किया जाता है वह राजस तप क्षणिक अर्थात् अनित्य कहाता है। अविवेक से क्लेशों को सह कर दूसरे की हानि होने के लिये जो तप किया जाता है वह तामस तप कहाता है ॥

पुण्यदेशे पुण्यकाले पात्रायानुपकारिणे ।
यद्दातव्यधिया दानं दीयते सात्विकं हि तत् ॥२१॥
स्वर्गादिफलमुद्दिश्य दानं यदुपकारिणे ।
दीयते क्लेशपूर्वं वा तदुक्तं राजसं बुधैः ॥२२॥
यद्दानमशुचौ देशे कुकाले चापमानतः ।
असत्कृत्याप्यपात्रेभ्यस्तामसं तदुदाहृतम् ॥२३॥

अर्थ—उससे उपकार होने की इच्छा न रखकर मुझे देना है इस बुद्धि से पात्र (योग्य) पुरुष को पुण्य देश में पुण्यकाल में जो दान दिया जाता है वह सात्विक दान कहाता है। स्वर्गादिक फल का उद्देश करके अथवा क्लेशपूर्वक उससे उपकार की इच्छा रखकर जो उसे दान दिया जाता है यह राजस दान

कहाता है। अपवित्र देश में निषिद्ध काल में अपमान पूर्वक सत्कार न करके अपात्र (अयोग्य) पुरुषों को जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहाता है॥

अथात्र वच्मि परशुराम सम्यक्फलाप्तये।
यज्ञदानतपःकर्मस्वपि साङ्गत्वसिद्धये ॥२४॥
ॐ तत् सदिति च त्रेधा ब्रह्मणः स्मरणं परम्।
ओमिति ब्रह्मवेद्यं यच्छ्रुतयोविहितास्ततः ॥२५॥
तज्जगद्धेत्वविदुषां परोक्षं ब्राह्मणास्ततः।
परमार्थं साधु शस्तं सद् यज्ञा विहितास्ततः ॥२६॥

अर्थ—हे परशुरामजी! अब यहां यज्ञ दान तप, इत्यादि कर्मों में उत्तम फल मिलने के लिये और उन कर्मों की साङ्गता सिद्ध होने के लिये जो कहता हूं। ॐ तत् सत् यह तीन प्रकार का ब्रह्म का परम (उत्तम) स्मरण है। उसमें ॐ यह ज्ञातव्य (जानने योग्य) ब्रह्म है अर्थात् ऐसा ॐ शब्द का अर्थ है इस लिये उससे वेद बने। तत् जगत् का कारण नहीं जानने वालों को अप्रत्यक्ष है अर्थात् ऐसा तत्शब्द का अर्थ है इसलिये उससे ब्राह्मण बने। यों ही सत्शब्द का अर्थ परमार्थ साधुभाव या सद्भाव है इस लिये उससे यज्ञ बने॥

तस्माद्वों तत्सदाद्यन्ते त्रिरुक्त्वाखिलाः क्रियाः।
यज्ञदानतपःस्नानयात्रापाठागमादयः ॥२७॥
वेदशास्त्रविदां प्रोक्तास्ताश्च सत्यातिरेकतः।
वेदोक्तफलदाः स्युरङ्गहीना अपि ध्रुवम् ॥२८॥

अर्थ—इसलिये वेद शास्त्र जानने वाले पुरुषों के लिये यज्ञ दान तप स्नान यात्रा पाठ और भोजन ये सब क्रिया आदि और अन्त में तीन तीन वार ॐ तत्सत् कहके ही करनी ऐसा कहा है। वे क्रिया सत्वगुण अधिक होने से अङ्ग हीन हों तौ भी निश्चय से वेदोक्त फल की देने वाली होती हैं॥

अनादिविधिरेषोस्मान् महात्मा नारदो भृगुः।
तन्मन्त्रविद्वसिष्ठश्च याज्ञवल्क्यः पराशरः ॥२९॥
एतत्प्रभावादेवैते निर्दोषाः सन्ति सर्वदा।
वरं तत् सर्वनामभ्य ॐ तत् सत् परमात्मनः ॥३०॥

अर्थ—यह विधि अनादि है इसीलिये महात्मा नारद भृगु वसिष्ठ याज्ञवल्क्य और पराशर ये इस मन्त्र के जानने वाले इसी मन्त्र के प्रभाव से सदा निर्दोष रहते हैं। और परमात्मा के सब नामों से यह ॐ तत् सत् श्रेष्ठ है॥

तन्नामत्रयमाहात्म्यं वदाम्यत्र पृथक् पृथक्।
नामैकैकं पवित्रीकृद्ब्रह्मप्राप्तिकरं परम् ॥३१॥

अर्थ—इन तीन नामों का माहात्म्य यहां अलग अलग कहते हैं। एक एक नाम पवित्र करने वाला और ब्रह्म की प्राप्ति करने वाला अवश्य है॥

उच्चारयिष्यति तु य स्त्रीणि नामान्यसौ शुचिः।
सन्देहः कोऽत्रवेदेषु सारमन्त्रोऽयमीरितः ॥३२॥

अर्थ—जो तीनों नामों का उच्चारण करेगा वह पवित्र होगा इसमें क्या संदेह है। वेदों में यहमन्त्र सारभूत कहा है॥

नाम नामत्रयष्वेकं येषु मन्त्रेषु वर्तते ।
तत्फलं नामशक्त्यैव स्यादवश्यं तथाशु च॥३३॥

अर्थ—तीन नामों में से एक भी नाम जिन मन्त्रों में है उसका फल नाम की शक्ति ही से अवश्य और शीघ्र होता है।

येषु नामत्रयेष्वेकमपि मन्त्रेषु नाम न ।
न तं मन्त्रं जपेद्यस्मात् संशयस्तत्फलाप्तिषु ॥३४॥

अर्थ—जिन मन्त्रों में इन तीन नामों में से एक भी नाम नहीं है उन मन्त्रों को जपना न चाहिये क्योंकि उनका फल मिलने में सन्देह है॥

कापि क्रिया वरा स्यात् किमेतन्मन्त्रजपं विना ।
क्रियाद्यन्ते ततोऽवश्यं त्रिर्मन्त्रममुमुच्चरेत् ॥३५॥

अर्थ—इस मन्त्र के जपने बिना कोई क्रिया श्रेष्ठ हो सकती है क्या? इसलिये क्रिया के आदि और अन्त में तीन२ बार इस मन्त्र को अवश्य उच्चारण करना चाहिये॥

श्रुतेः सारं तु गायत्री तस्या व्याहृतयस्त्रयः ।
तत्सारं प्रणवः प्रोक्तो गोदुग्धात्तु घृतं यथा ॥३६॥

अर्थ—वेद का सार गायत्री है गायत्री का सार तीन व्याहृति (भूः भुवः स्वः) ये हैं और उनका सार प्रणव (ॐ) है। जैसे गाय के दूध में से घी है॥

दुग्ध्वा स्वयं गोप इव वेदेभ्यो विधिनोदिता ।
गायत्री साश्रेष्ठतम वेदमन्त्रेषु सर्वथा ॥३७॥

अर्थ—ब्रह्माजी ने आपही गोप (अहीर) के ऐसे वेदों में से दूह के गायत्री कही है। यह सर्वथा सब वेद के मन्त्रों में श्रेष्ठ है॥

तस्माद्विप्रः क्षत्रियो वा वैश्यो वा वेत्तिनोयदि ।
गायत्रीं न जपेद्वापि स जीवन् शूद्रतामियात् ।३८।
वृथा तज्जन्म संसारे वन्ध्या मातास्य वा वरा ।
श्वजन्मानि प्रपद्येत सोऽवश्यं मरणोत्तरम् ॥३९॥

अर्थ—तस्मात् जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य गायत्री को नहीं जानता या गायत्री मन्त्र का जप नहीं करता वह जीता हुआ भी शूद्र के समान है उसका जन्म संसार में वृथा है अथवा उसकी माता बांझ रहती तो श्रेष्ठ होती। और यह ब्राह्मण आदि मरने के उपरान्त कुत्ते के जन्म को पावेगा॥

गायत्री नोपदिष्टा वा नचोपनयनं कृतम् ।
द्विजेन येन पुत्राणां स गच्छेन्नरकं ध्रुवम् ॥४०॥

अर्थ—जिस ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्यवर्ण के पिता ने अपने पुत्रों को गायत्री मन्त्र का उपदेश नहीं किया या यज्ञोपवीत संस्कार नहीं किया वह अवश्य ही नरक में जायगा॥

द्विजेन जप्ता गायत्री दद्याद्दुग्धं घृतं मधु ।
अर्थं चान्ते ब्रह्मलाभं कुर्यान्मातेव रक्षति ॥४१॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य गायत्री मन्त्र जपता है उसको गायत्री दूध घी मधु और सर्वसिद्धि देती है और अन्त में ब्रह्म को मिला देती है। तथा माता के समान रक्षा करती है॥

ये विप्रा नरपतयो विशः प्रभाते
स्वां सन्ध्यामनवरतं समाचरेयुः ।
ते वै रात्र्यघमपहन्ति ये निशायां
घस्राघं त्विति समुपास्यतां स्वसन्ध्ये ॥४२॥

अर्थ—जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य प्रातः काल की सन्ध्या को नित्य करते हैं वे रात्रि के पापों को दूर करते हैं और जो रात्रि की सन्ध्या को करते हैं वे दिन के पापों को नाश करते हैं। इसलिये दोनों काल की सन्ध्या करनी चाहिये॥

त्रिविधा श्रद्धा हार
स्त्रिविधो दानं तपस्त्रिविधम् ।
त्रिविधो यज्ञः प्रोक्तः
किं भूयः श्रोतुमिच्छ सीति वद ॥४३॥

अर्थ—तीन प्रकार की श्रद्धा, तीन प्रकार का आहार, तीन प्रकार का दान और तप तथा तीन प्रकार का यज्ञ कहा अब क्या सुनने चाहते हो सो कहो॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक-
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायांद्वाविंशः सर्गः॥२२॥



परशुराम उवाच—

सन्यासस्य महाराज त्यागस्य च पृथक् पृथक् ।
स्वरूपं वेत्तुमिच्छामि जनकाख्यातुमर्हसि ॥१॥
कृपया परयामह्यं यत् कृतेन्द्रियनिग्रहः ।
ज्ञाने भगवता साम्बशिवेन सदृशो भवान् ॥२॥

अर्थ—परशुरामजी कहते हैं कि हे जनक महाराज ! सन्यास और त्याग का अलग अलग स्वरूप जानने चाहता हूं सो पूर्ण कृपा करके मुझे कहो । आप संपूर्ण इन्द्रियों को जीते हुए हो और ज्ञान में भगवान् पार्वती सहित शिव के समान हो॥

जनक उवाच—

संन्यासः पण्डितैः प्रोक्तस्त्यागो यः काम्यकर्मणाम् ।
कृत्स्नकर्मफलस्यैव त्याग स्त्यागो बुधैः स्मृतः ॥३॥

अर्थ—जनक जी कहते हैं कि विद्वान् लोगों ने काम्य कर्मों का जो त्याग है उसको सन्यास कहा है और उन्होंने संपूर्ण कर्मों के फल ही के त्याग को त्याग कहा है ॥

कर्माणि दोषान् दृष्ट्वा प्राहुस्त्यागं विवेकिनोऽर्थवशात् ।
त्याज्यानि जैमिनीया नैव तपोदानयज्ञकर्माणि ।४।

अर्थ—विवेकी लोग कर्मों को अर्थमूलक समझ के और उनमें दोष देख के उनका त्याग करना कहते हैं । और जैमिनीय (मीमांसक) लोग तप दान और यज्ञकर्मों का त्याग नहीं करना ऐसा कहते हैं ॥

निश्चयस्त्यागविषये मम यस्तं मुने शृणु ।
यतस्त्यागं त्रिधा प्राहुर्मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥५॥

अर्थ—हे परशुराम जी ! त्याग के विषय में जो मेरा निश्चय है उसे सुनो। क्योंकि तत्त्वदर्शी मुनि लोग त्याग को तीन प्रकार का कहते हैं॥

यज्ञदानतपःकर्माण्यन्तःकरणशुद्धये ।
कर्तव्यान्येव न त्याज्यानीति प्राहुर्मनीषिणः ॥६॥
कर्माण्येतानि कर्तव्यान्येवासक्तिं फलानि च ।
संत्यज्येति मतं मन्ये मुने निश्चितमुत्तमम् ॥७॥

अर्थ—यज्ञदान और तप ये तीनों कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के लिये हैं इसलिये करने ही चाहिये त्याग नहीं करने ऐसा बुद्धिमान् लोग कहते हैं। कर्मों के फल और उनमें आसक्त होना छोड़ के ये कर्म करने ही चाहियें। हे परशुराम जी निश्चय से यह मत उत्तम मानता हूं॥

न संभवति नित्यानां त्यागो विहितकर्मणाम् ।
त्यजेच्चेदविवेकेन तान् स तामस उच्यते ॥८॥
देहक्लेशभयात् कर्म य दुःख मिति संत्यजेत् ।
तं त्यागं राजसं कृत्वा न त्यागफलमाप्नुयात् ॥९॥
नियतं कर्मकर्तव्यमित्येवाचर्यते तु यत् ।
त्यक्त्वाफलानि चासक्तिमुक्तस्त्यागः स सात्विकः॥१०॥

अर्थ—नित्य और विहित कर्मों का त्याग नहीं संभव-

ता इसलिये अविवेक से जो उन्हें छोड़ दे तो वह त्याग तामस कहाता है। जो कर्म को शरीर पीड़ा के भय से दुःख समुझ के त्याग करे वह राजस त्याग करके त्याग के फल को नहीं पाता। नियत कर्म करना चाहिये इतना ही समुझ के उसके फल की इच्छा और उसमें आसक्ति छोड़ के जो त्याग किया जाता है वह त्याग सात्विक कहाता है॥

दुःखदं कर्म न द्वेष्टि न सक्तः सुखदेष्वपि ।
स त्यागी छिन्नसन्देहः सात्विको बुद्धिमान् वली॥११॥
शरीरी सर्वकर्माणि त्यक्तुं शक्नोति नो यतः ।
ततः कर्मफलत्यागी बुधैस्त्यागीति गीयते ॥१२॥
इष्टानिष्टविमिश्राणि त्रिधा कर्मफलान्यपि ।
परलोके सकामानां भवन्ति त्यागिनां न ते ॥१३॥

अर्थ—जो त्यागी दुःख देनेवाले कर्मों से द्वेष नहीं करता और सुख देने वाले कर्मों में आसक्त भी नहीं होता वह त्यागी बुद्धिमान् और बलवान् कहाता है और उसके सब सन्देह मिट जाते हैं। जिस कारण से शरीर धारी पुरुष सब कर्मों को छोड़ नहीं सकता इसलिये कर्म फलों को त्यागनेवाला त्यागी कहाता है। अच्छे बुरे और मिले हुए तीनों प्रकार के कर्मफल परलोक में सकाम (कामना सहित) पुरुषों को होते हैं त्यागियों को ये नहीं होते॥

अशेषकर्मसिद्धार्थं कारणानीह पञ्च च ।
प्रोक्तानि साङ्ख्ये वेदान्ते मत्तस्तानि मुने शृणु ॥१४॥

तत्रायमधिष्ठानं कर्ता करणं पृथक्प्रकारमपि ।
नानाविधाश्च चेष्टाः पञ्चममत्राभिधीयते दैवम् ॥१५॥
यत् कर्मवाङ्मनोदेहैर्न्याय्यमन्याय्यमेव वा ।
आरभ्यते नरै स्त्रेधा तस्यैते पञ्च हेतवः ॥१६॥

अर्थ—हे परशुरामजी ! संपूर्ण कर्मों की सिद्धि होने के लिये सांख्य शास्त्र और वेदान्त में पांच कारण कहे हैं सो मुझ से सुनों। पहिला अधिष्ठान (जहां वा जिसमें वह कर्म किया जाता है), दूसरा कर्त्ता, तीसरे अलग अलग इन्द्रिय (जो उस कर्म करने के साधन हैं) चौथे नाना प्रकार की चेष्टा और पांचवां कारणदैव है। न्याय से अथवा अन्याय से जो कर्म मनुष्य लोग वाणी मन और शरीर तीन प्रकार से आरंभ करते हैं उस के ये पूर्वोक्त पांच प्रकार के कारण हैं॥

एवं सति कर्तारं मन्यतआत्मानमेव यस्तत्र ।
अविवेकाद्गुरुशास्त्रोपदेशरहितः स नेक्षते दृश्यम्।१७।
सर्वदेहेष्वनहङ्कारः पश्येद्यः प्राणिनोऽखिलान् ।
विवेकदृष्ट्या नो भिन्नान् लोकदृष्ट्या पृथक्स्थितान्१८
स घ्नन्नपि न हन्तीमान् लोकान् हीनोऽघशङ्कया ।
फलेनापि न बद्धः स्यादसौ हननकर्मणः ॥१९॥

अर्थ—ऐसा रहते जो आत्मा ही को कर्मों का कर्त्ता मानता है वह शास्त्रोपदेश और गुरूपदेश से रहित अपने अविवेक से दृश्य वस्तु को नहीं देख सकता। अहङ्कार रहित सर्व-

दर्शी पुरुष संपूर्ण प्राणियों को विवेक दृष्टि से अलग नहीं देखता और लोग दृष्टि से अलग देखता है वह मारता हुआ भी इन लोगों को नहीं मारता है क्योंकि उसको पाप के होने की शङ्का नहीं है। और यह मारने के, कर्म के फल से भी बद्ध नहीं होता ॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता स्यात् कर्मप्रेरणा त्रिधा।
कर्तृकर्मगुणास्त्रेधा कर्मसंग्रहकारकाः ॥२०॥

अर्थ—ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता तीन प्रकार की कर्म की प्रेरणा है अर्थात् इन तीनों के अनुसार कर्म होता है। कर्ता कर्म और प्रेरणा के गुण ये तीन कर्म के सङ्ग्रह करने वाले हैं॥

ज्ञानं च कर्म कर्ता च त्रिधा सत्वादिभेदतः।
साङ्ख्यशास्त्रे यथा प्रोक्ता यथावत् तानथो शृणु ॥२१॥

अर्थ—ज्ञान कर्म और कर्ता ये प्रत्येक सत्वादि गुणों के भेद से तीन प्रकार के साङ्ख्यशास्त्र में जैसे कहे हैं उनको अब यथाय त (जैसे हैं वैसे) सुनो॥

येनैकमीक्षते भावं सर्वभूतेष्वनश्वरम्।
विभक्तेष्वविभक्तं तज्ज्ञानं जानीहि सात्विकम् ॥२२॥
पार्थक्यं सर्वभूतेषु वेत्ति येन पृथग्विधान्।
सुखदुःखादिकान् भावञ्ज्ञानं तद्विद्धि राजसम् ॥२३॥
विनाप्रमाणं यच्चैककार्यासक्तमशेषवत्।
अपारमार्थिकं तुच्छं ज्ञानं तत् तामसं विदुः॥२४॥

अर्थ—जिस ज्ञान से अलग अलग सर्व भूतों में अनाशवान् एक अभिन्न भाव को देखता है वह ज्ञान सात्विक जानो। जिस ज्ञान से सर्व भूतों को भिन्न भिन्न तथा उनमें सुख दुःख आदि भावों को अलग अलग जानते हैं उसको राजस ज्ञान जानो बिना प्रमाण के अनेक कार्यों के सदृश एक कार्य में लगा हुआ हो और जो परमार्थिक न होकर तुच्छ है वह ज्ञान तामस है॥

रागद्वेषविहीनं यत् कर्तृत्वाभिमानशून्यं च।
नियतं यच्च फलेच्छाहीनं तत् सात्विकं कर्म ॥२५
यत् कर्म क्लेशबहुलं क्रियते कार्यसिद्धये।
अहंकारेण सहितं राजसं तत् प्रचक्षते ॥२६॥
द्रव्यनाशं स्वसामर्थ्यं फलं च परपीडनम्।
अनवेक्ष्याविवेकेन कर्म यत् तामसं हि तत् ॥२७॥

अर्थ—जो राग द्वेष से कर्तृत्व के अभिमान से (मैं करता हूं इत्यादि से) और फल की इच्छा से रहित नित्य विधिविहित कर्म है वह सात्विक कहाता है। जो कार्यसिद्धि के लिये बहुत क्लेश सह के अहङ्कार के साथ किया जाता है वह कर्म राजस कहाता है। जो द्रव्य नाश को अपने सामर्थ्य को अपने कार्य के फल को और पराई पीड़ा को न देख के अविवेक से किया जाता है वह तामस कर्म कहाता है॥

धैर्योत्साहयुतस्त्यक्तसङ्गोऽहङ्कारवर्जितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्हर्षखेदशून्यः कर्ता तु सात्विकः॥२८॥

लाभालाभे हर्षशोकयुतो लुब्धोऽशुचिः फलम्।
लिप्सते हिंसको रागी कर्ता राजस उच्यते ॥२९॥
अविवेक्यविहितकर्ता छली त्वनम्रश्च परतिरस्कारे।
निरतोऽलसश्च दुःखी चिरक्ति यस्तामसः कर्ता।३०।

अर्थ—जो पुरुष धैर्य और उत्साह से युक्त हो निःसङ्ग हो कर्तृत्वाभिमान से रहित हो और कार्य सिद्धि से हर्ष न करे और कार्य न होने से खेद न करे उस कर्त्ता को सात्विक जानो। जो लाभ होने से हर्ष करे, लाभ न होने से खेद करे, लोभी हो, अपवित्र हो, फल की इच्छा करे, हिंसा करे, रागयुक्त हो, वह कर्ता राजस कहाता है। जो अविवेकी हो अविहित कर्मों को करे, छली हो, नम्र न हो, दूसरों का तिरस्कार करने में आसक्त हो, आलसी हो, दुःखी हो,, काम करने में देर करे, वह कर्ता तामस कहाता है॥

सत्वादित्रिगुणैर्बुद्धेर्धैर्यस्यापि त्रिधा भिदा।
प्रोक्ता पृथक् पृथक् तां च शृणु वक्ष्याम्यशेषतः।३१।

अर्थ—बुद्धि और धैर्य के सत्वादि तीनों गुणों करके तीन भेद कहे हैं उनको सभों को अलग अलग करके मैं कहता हूँ सो सुनो।

पापान्निवृत्तिं सुकृते प्रवृत्तिं
विधिप्रयुक्तेऽप्यभयं भयं तु।
विनिन्दिते बन्धनमोक्षहेतुं
जानाति बुद्धिः खलु सात्विकी सा ॥३२॥

धर्माधर्मौ यया बुद्ध्या सन्दिहानः प्रपश्यति ।
अकर्तव्यं च कर्तव्यं सा बुद्धी राजसी स्मृता ।३३।
धर्माधर्मौ तथा सर्वान् पदार्थानन्यथेक्षते ।
अज्ञानाच्छादिता बुद्धिस्तामसी परिकीर्तिता ॥३४॥

अर्थ—पापकर्म से निवृत्त हो पुण्यकर्म में प्रवृत्त हो विहित कर्म में भय न करे निन्दित कर्म में भय करे और बन्ध मोक्ष के कारण को जाने वह बुद्धि निश्चय से सात्विक है। जिस बुद्धि से धर्म और अधर्म को कर्तव्य और अकर्तव्य को सन्देह रूप से देखता है वह राजस बुद्धि कहाती है। धर्म अधर्म तथा अन्य सर्व पदार्थों को जो बुद्धि उलटा देखती है और अज्ञान से ढकी है वह बुद्धि तामसी कहलाती है॥

एकाग्रमानसो भूत्वा प्राणेन्द्रियमनःक्रियाः ।
यया धारयते धृत्या सात्विकी सा धृतिः स्मृता ।३५।
धृत्या धारयते धर्मकामार्थान् यत्नसङ्गतः ।
फलाभिलाषो भवति सा धृती राजसी स्मृता ॥३६॥
शोकस्वप्नभयोन्मादविषादान् न विमुञ्चति ।
धृत्या यया च दुर्बुद्धिस्तामसी सा धृतिर्मता ॥३७॥

अर्थ—एकाग्र चित्त होकर प्राण इन्द्रिय और मन की क्रियाओं को जिस धैर्य से धारण करता है वह सात्विक धैर्य कहाता है। जिसके संबन्ध से धर्म अर्थ कामों को धैर्य से धारण करता है उस फल की इच्छा करता हो तो वह धैर्य राजस

कहाता है दुर्बुद्धि (उन्मत्त) पुरुष जिस धैर्य से शोक निद्रा भय उन्मत्तता और खेद इनको नहीं छोड़ता वह धैर्य तामस कहाता है ॥

रमते यत्र चाभ्यासाच्चेतो दुःखान्निवर्तते ।
तत्सुखं त्रिविधं वक्ष्ये सत्वादिगुणभेदतः ॥३८॥

अर्थ—जिस सुख में अभ्यास से चित्त रमता है और दुःख से निवृत्त होता है वह सुख सत्वादि गुणों के भेद से तीन प्रकार का है सो कहता हूं ॥

आरम्भे विषतुल्यं यदन्ते च सुधया समम् ।
धीमनोनिर्मलकरं तत् सुखं सात्विकं स्मृतम् ॥३९॥
आदावमृतवच्चान्ते विषवद्यत् सुखं भवेत् ।
विषयेन्द्रिययोगेन राजसं तत् सुखं स्मृतम् ॥४०॥
आरम्भे परिणामे च यन्मनो मोहनं सुखम् ।
निद्रालस्याविवेकोत्थं तामसं तत् प्रकीर्तितम् ॥४१॥

अर्थ—जो पहिले विष जैसा हो और अन्त में अमृत जैसा हो और बुद्धि तथा मन को निर्मल करने वाला हो वह सुख सात्विक कहाता है। जो पहिले अमृत जैसा हो अन्त में विष जैसा हो। जो विषय और इन्द्रियों के योग से उत्पन्न होता है वह सुख राजस कहाता है। जो आदि और अन्त में मन को मोह करने वाला हो निद्रा आलस्य और अविवेक से उत्पन्न हो वह सुख तामस कहाता है ॥

पाताले दिवि भूमावस्ति च न शरीरधृक्कोऽपि ।
यः सत्वाद्यैरेभिस्त्रिभिर्गुणैः प्रकृतिजैर्मुक्तः ॥४२॥

अर्थ—पाताल में स्वर्ग में व भूमि में ऐसा कोई शरीरधारी नहीं है जो इस प्रकृति से उत्पन्न सत्वादि तीन गुणों से छूटा है ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक-
- परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां त्रयोविंशः सर्गः ॥२३॥



जनक उवाच—

गुणैः कर्माणि सत्वाद्यैर्विभक्तानि स्वभावजैः ।
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रवर्णानां तान् क्रमाच्छृणु ॥१॥

अर्थ—जनक जी कहते हैं कि स्वभावजन्य सत्वादि गुणों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के कर्म अलग अलग किये हैं उनको क्रम से सुनो ॥

तपो बाह्यान्तरं शौचं शान्तिरिन्द्रियनिग्रहः ।
क्षमा निश्चलता चित्ते विज्ञानं शास्त्रसंभवम् ॥२॥
ज्ञानं चानुभवप्राप्तमथनित्यत्वधीरपि ।
परलोकस्य विषये स्वभावाद् ब्रह्मकर्म तत् ॥३॥

अर्थ—तप बाहर भीतर की शुद्धि शान्ति इन्द्रियों का

निग्रह क्षमा चित्त में स्थिरता शास्त्र का विज्ञान अनुभव से प्राप्तज्ञान और परलोक के विषय में नित्यत्वबुद्धि यह स्वभाव से ब्राह्मण का कर्म है ॥

दानं समर्थता शौर्यं संग्रामादपलायनम् ।
तेजश्च दक्षता धैर्यं कर्म क्षात्रं स्वभावजम् ॥४॥
गोरक्षा कृषिवाणिज्ये विशां कर्म स्वभावजम् ।
द्विजानां परिचर्यैव शूद्रकर्म स्वभावजम् ॥५॥

अर्थ—दान का करना वा दान का देना समर्थ होना, शूरता संग्राम से नहीं भागना, तेजस्वी होना, चतुर होना, धैर्य रखना, यह स्वभाव से क्षत्रिय का कर्म है। गौ (पशु) की रक्षा करना, कृषि और व्यापार करना, यह स्वभाव से वैश्य का कर्म है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों की सेवा ही स्वभाव से शूद्र का कर्म है ॥

लभते पुरुषः सिद्धिं निरतः स्वस्वकर्मणि ।
तद्यथावत् प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना मुने ॥६॥

अर्थ—पुरुष अपने अपने कर्म में लगा रहने से सिद्धि को पाता है यह ठीक ठीक कहता हूं हे परशुरामजी एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥

येन सर्वं जगद्व्याप्तं प्रवृत्तिः प्राणिनां यतः ।
संपूज्य सिद्धिं लभते पुरुषस्तं स्वकर्मणा ॥७॥

अर्थ—जिससे संपूर्ण जगत व्याप्त है और जिससे संपूर्ण

प्राणियों की प्रवृत्ति होती है उस परमेश्वर की अपने अपने कर्मों के अनुसार पूजा करने से पुरुष सिद्धि को पाता है ॥

श्रेष्ठः स्वधर्मो हीनोऽपि स्वाचीर्णात् परधर्मतः ।
यतः स्वभावजं कर्म कुर्वन् नो दुःखमाप्नुयात् ॥८॥

अर्थ—दूसरे कर्म का उत्तम प्रकार से आचरण करे उससे अपना धर्म निकृष्ट होने पर भी श्रेष्ठ है क्योंकि स्वभावज कर्म को करता हुआ पुरुष दुःख को नहीं प्राप्त हो सकता ॥

स्वभावजं सदोषं च कर्म नैव त्यजेद्यतः ।
सर्वकर्माणि दोषेणावृता धूमेन वह्निवत् ॥९॥

अर्थ—स्वभावज कर्म दोष सहित भी हो तो त्याग नहीं करता क्योंकि सभी कर्म दोष से युक्त हैं जैसा अग्नि धूम से युक्त रहता है ॥

असक्तधीर्जिता हन्तो निस्पृहो लभते पराम् ।
नैष्कर्म्यसिद्धिसंन्यासाद्ब्रह्मात्मैक्यस्वरूपिणीम् ।१०।

अर्थ—जिस पुरुष की सग में बुद्धि न हो अहङ्कार को जीता हुआ हो इच्छा रहित हो वह संन्यास से उत्कृष्ट निष्कर्मसिद्धि को जो ब्रह्म और आत्मा की एकता का रूप है उसको पाता है ॥

तां ज्ञानस्य परं हेतुं सिद्धिं प्राप्तो यथा पुमान् ।
ब्रह्मैति च तथा वक्ष्ये समासेन शृणुष्व तत् ॥११॥

अर्थ—ज्ञान को मुख्य कारण उस निष्कर्म सिद्धि को प्राप्त

होके पुरुष जैसे ब्रह्म को प्राप्त होता है वैसा संक्षेप से कहता हूं सो सुनो ॥

युक्तः सात्विकया बुद्ध्यात्मानं धैर्येण निश्चलम् ।
कृत्वा शब्दादिविषयान् रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥१२॥
एकान्तदेशसंवासी यतदेहवचोमनाः ।
ध्यानयोगे च वैराग्ये तत्परो मितभोजनः ॥१३॥
कामं क्रोधं बलं दर्पमहङ्कारं परिग्रहम् ।
त्यक्त्वा शान्तो निर्ममश्च ब्रह्मभावमवाप्नुयात्॥१४॥

अर्थ—सात्विक बुद्धि से युक्त होकर धैर्य से आत्मा को स्थिर करके शब्दादि विषय और रागद्वेष छोड़ के एकान्त स्थान में रहकर शरीर वचन और मन को वश करके ध्यान-योग और वैराग्य में तत्पर हो परिमाण का आहार करे, काम, क्रोध, बल, दर्प, घमंड, परिग्रह को त्याग करके शान्त हो ममता छोड़ वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है ॥

स ब्रह्मभूतो मनसि प्रसन्नो
न शोकभाङ्क्षति वस्तु किंचित् ।
सर्वाणि भूतानि समानि पश्यन्
परां परेशस्य लभेत भक्तिम् ॥१५॥

अर्थ—ब्रह्मभाव को प्राप्त होके मन में प्रसन्न होता है। उसको शोक नहीं होता वह कोई वस्तु नहीं चाहता संपूर्ण भूतों को समान देखता हुआ वह परमेश्वर की परमभक्ति को पाता है ॥

जानात्यचलया भक्त्या परमेशं यथार्थतः ।
व्याप्तं सर्वेषु भूतेषु सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥१६॥
एवं यथार्थरूपेण विज्ञाय तदनन्तरम् ।
परमानन्दरूपं स समाप्नोति न संशयः ॥१७॥

अर्थ—मनुष्य अचल भक्ति से परमेश्वर को यथार्थ रूप से जानता है। परमेश्वर सर्व भूतों में व्याप्त है और सत् चित् आनन्द के स्वरूप है। ऐसा यथार्थ रूप से जानने से उसके पीछे वह परमानन्द रूप को प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं॥

ब्रह्माश्रयश्च सर्वाणी कुर्वन् कर्माणि सर्वदा ।
अनुग्रहात् परेशस्य लभते शाश्वतं पदम् ॥१८॥

अर्थ—ब्रह्माश्रय होकर सब कर्मों को सदा करता हुआ परमेश्वर के अनुग्रह से शाश्वत (नित्य) परमपद को प्राप्त होता है॥

पुमर्थं ब्रह्म विज्ञाय सर्वकर्माणि चेतसा ।
समर्प्य चेश्वरे बुध्यैकाग्रयोमोमिति स्मर ॥१९॥

अर्थ—हे परशुरामजी! परम पुरुषार्थ रूप ब्रह्म को जान के संपूर्ण कामों को मन से परमेश्वर में समर्पण करके एकाग्र बुद्धि से ॐ ॐ ऐसा स्मरण करो॥

परेशानुग्रहात् सांसारिकदुःखाद्विमोक्ष्यसे ।
नचेत्क्रोप्यस्यहङ्कराद्ध्रयसे पुरुपार्थतः ॥२०॥

अहङ्कारवशीभूय चेदस्वीकृत्य मद्वचः ।
योत्स्यसे तर्हियुद्धस्य यत्नःस्यान्निष्फलस्तव ॥२१॥
यतः सर्वः स्वभावोत्थकर्मणा स्वेन वध्यते ।
युद्धमिच्छसि यन्मोहात् तद्वशस्त्वं न योत्स्यसे ।२२

अर्थ—परमेश्वर के अनुग्रह से तुम संसार के दुःखों से छूट जाओगे। जो अहङ्कार से न सुनोगे तो पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाओगे। जो अहङ्कार के वश होकर मेरे वचन को स्वीकार न करके लड़ोगे तो तुम्हारा युद्ध का प्रयत्न निष्फल होगा क्योंकि सभी अपने अपने स्वभाव जनित कर्म से बद्ध होते हैं। मोह के वश होकर जो युद्ध को चाहते हो तो अपने स्वभावज कर्म के वश होकर नहीं लड़ोगे॥

स्वमाययेश्वरः सर्वप्राणिनां भूतसंहतिम् ।
भ्रामयन् हृदये तेषां निवासं कुरुतेऽनिशम् ॥२३॥
अतः सर्वेण भावेन तमीशं शरणं व्रज ।
यदनुग्रहतः शान्तिं परां मोक्षं च लप्स्यसे ॥२४॥

अर्थ—परमेश्वर अपनी माया से संपूर्ण प्राणियों के भूत समुदाय को घुमाता हुआ उनके हृदय में सदा वास करता है। इसलिये सर्व भाव से उस परमेश्वर के शरण जाओ उसके अनुग्रह से परम शान्ति और मोक्ष को प्राप्त होगे॥

इति गोप्यं मया ज्ञानं कथितं पर्शुराम ते ।
सर्वमेतद्विचार्य त्वं यथेच्छसि तथा कुरु ॥२५॥

गुह्याद्गुह्यतमं भूयः सर्वं शृणु वचो मम ।
हितं वक्ष्यामि ते ब्रह्मन् विश्वस्येष्टतमे त्वयि ।२६।

अर्थ—हे परशुरामजी ! यह गुप्त ज्ञान मैंने तुमसे कहा ॥ तुम यह सम्पूर्ण विचार के जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो ॥ फिर गुप्त से गुप्त सब कहता हूं मेरा वचन सुनो हे ब्रह्मन् । तुम मेरे इष्ट हो इसलिये विश्वास करके तुम्हारा हित हो ऐसा कहता हूं ॥

तपोदानपुण्यादिकं यच्च किंचित्
कृतं स्यात् त्वया सर्वमीशेऽर्पय त्वम् ।
परेशं नमस्कृत्य चैकाग्रचित्तः
स्मरोमित्यथो मुक्तये संशयः कः ॥२७॥

यः कोपिक्षणमात्रं च स्मरत्योमिति मुक्तिभाक् ।
तनयो जमदग्नेस्त्वं त्वन्मुक्तौ संशयोऽत्र कः ॥२८॥

अर्थ—तप दान पुण्य आदि जोकुछ तुम करो वह सब परमेश्वर को अर्पण करो । और परमेश्वर को नमस्कार करके एकाग्र चित्त होकर ॐ ऐसा सुमिरो फिर मुक्ति के लिये क्या सन्देह है । जो कोई क्षणमात्र भी ॐ ऐसा सुमिरता है वह मुक्ति को पाता है, तुम जमदग्नि के पुत्र हो तुम्हारी मुक्ति में क्या सन्देह है ॥

इदमोमिति च वसिष्ठो वाल्मीकिर्वामदेवोऽत्रिः ।
भृगुयाज्ञवल्क्यनारदपराशरा अङ्गिरा भरद्वाजः ॥२९॥

इन्द्रो ब्रह्मा विष्णुः शिवो जपत्योंजपं विना नहि शम्।
ओमोमिति स्मर सदा कल्याणेच्छास्ति पर्शुराम यदि ॥

अर्थ—यह ॐ को वसिष्ठ, वाल्मीकि, वामदेव, अत्रि भृगु, याज्ञवाल्क्य, नारद, पराशर, अङ्गिरा, भरद्वाज, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, ये जपते हैं। ॐकार के जप के बिना कल्याण नहीं है। हे परशुरामजी ! तुमको जो कल्याण की इच्छा है तो ॐ ॐ ऐसा सदा स्मरण करो ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक-
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां चतुर्विंशः सर्गः ॥२४॥



परशुराम उवाच—

प्रणवस्मरणं राजन् कर्तव्यमिति यत् पुरा।
भवता गदितं सम्यक् कृपया ब्रूहि तद्विधिम् ॥१॥

अर्थ—परशुराम जी बोले कि हे जनक राजा। आपने जो पहिले ॐ का स्मरण करना चाहिये ऐसा कहा उसका विधि कृपा करके उत्तम प्रकार से कहो ॥

जनक उवाच—

त्वयापरशुरामैष प्रश्नः सम्यक्त्वया कृतः।
यथोमया शिवः पृष्ट आह तत् ते वदाम्यहम् ॥२॥

सुखोपविष्टं कैलासे पार्वती शिवमेकदा ।
पप्रच्छ परमात्मानं संस्मरन्ति महर्षयः ॥३॥
केनमन्त्रेण देवेश कृपया तद्वदाशु मे ।
ततः शम्भुश्चिरं ध्यात्वा प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥४॥

अर्थ—जनक जी बोले कि हे परशुराम जी ! तुमने यह प्रश्न उत्तम प्रकार से किया जैसा पार्वतीजी ने शिव भगवान से पूछा और उन्होंने कहा वह तुमसे कहता हूं । पार्वतीजी ने एक समय कैलास में सुख से बैठे हुए शिव भगवान से पूछा कि महर्षि लोग परमात्मा का स्मरण किस मंत्र से करते हैं हे शिव भगवान् ! कृपा करके वह मुझे शीघ्र कहो फिर शिवजी देर तक ध्यान करके कहने लगे ॥

शिवउवाच—

शृणु पार्वति वक्ष्यामि गोपनीयं प्रयत्नतः ।
नाद्यावधि च कस्मै चित् प्रोक्तं त्वत्प्रीतिहेतवे॥५॥
प्रकाशयामि यज्ज्ञानात् प्राप्यते परमं पदम् ।
नातः परतरः कश्चिन्मार्गः श्रेष्ठतमोऽघहृत् ॥६॥

अर्थ—शिवजी कहते हैं कि हे पार्वतीजी ! जो यत्न से गोपनीय है और अभी तक किसी को कहा नहीं है तुम्हारे प्रीति के अर्थ प्रकाशित करता हूं जिसके जानने से परम पद प्राप्त्य होता है इसको छोड़ के कोई दूसरा मार्ग श्रेष्ठ नहीं है जो पाप का नाश करे ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मेणः गदितं किल।
तद्ध्यानात् तज्जपान्मर्त्या मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषात्॥७

अर्थ—ॐ यह एकाक्षर ब्रह्म है ऐसा परब्रह्म ने निश्चय करके कहा है उसके ध्यान से उसके जप से मनुष्य सर्व, पापों से मुक्त होते हैं॥

सप्तात्र सन्ति सिद्धान्तास्तान् शृणुष्वयथोदितान्।
स्मृतो हिरण्यगर्भस्य ब्राह्मणः प्रथमोऽत्र च॥८॥

अर्थ—इस प्रणव (ॐ) के विषय में सात सिद्धान्त हैं जैसे मैं कहता हूं वैसे उनको सुनो। यहां पहिला सिद्धान्त हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी का कहा हुआ है॥

यो जिज्ञासुः परं योगं जिघृक्षुः परमात्मनः।
प्रणवोपासनामेवं स कुर्यादिति तन्मतम्॥९॥
त्रिमात्रिकस्तु प्रणवस्त्रिमात्रारूप इष्यते।
त्रिब्रह्मरूपश्च तथा भूयस्त्र्यक्षररूपकः॥१०॥
इति ज्ञात्वाय ओंकारमुपास्ते सर्वदा बुधः।
हिरण्यगर्भसिद्धान्तात् स प्राप्नोतिपरं पदम्॥११॥

अर्थ—जो जिज्ञासु [जानने वाला पुरुष] परमात्मा का परम योग पाने चाहता हो वह इसी ॐ की उपासना करे यह उनका मत है। त्रिमात्रिक ॐ त्रिमात्रा रूप है। (अग्नि,वायु,सूर्य) वैसेही ॐ त्रिब्रह्म रूप है (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) फिर ॐ त्रि अक्षर रूप है (अकार, उकार, मकार) ऐसा जानकर

के जो विद्वान् सर्वदा ओ३म् की उपासना करता है वह हिरण्य गर्भ के सिद्धान्त से परम पद को प्राप्त होता है ॥

द्वितीयः साङ्ख्यशास्त्रस्य प्रणेतुः कपिलस्य सः ।
त्रिज्ञानरूपस्त्रिगुणस्त्रिहेतुः प्रणवः स्मृतः ॥१२॥
नवभेदं मुमुक्षुर्य उपास्ते चैवमन्वहम् ।
स सर्वपापनिर्मुक्तः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥१३॥

अर्थ—दूसरा सिद्धान्त सांख्यशास्त्र के कर्ता कपिल महा मुनिजी का है। ओ३म् तीन ज्ञान रूप है (व्यक्त ज्ञान, अव्यक्त ज्ञान, ज्ञेयज्ञान) ओ३म् तीन गुण रूप है (सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण) ओ३म् तीन कारण रूप है (मन, बुद्धि, अहङ्कार) इस प्रकार जो मुमुक्षु पुरुष ओ३म् की सदा उपासना करता है वह संपूर्ण पापों से मुक्त होके मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

तृतीयोऽपान्तरतममुनेः स्यात् कर्मवादिनः ।
त्रिदैवतश्च त्रिमुखः प्रणवस्त्रिप्रयोजनः ॥१४॥
ज्ञात्वा यथार्थतश्चैवं शोभितं नवनामभिः ।
जिज्ञासुः समुपास्यैतं परं पदमवाप्नुयात् ॥१५॥

अर्थ—तीसरा सिद्धान्त कर्मवादी अपान्तरतम मुनि का है ओ३म् को तीन देवता (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र) तीन मुख (गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि) तीन प्रयोजन (अर्थ, धर्म, काम) इन नौ नाम करके सुशोभित है ऐसा जिज्ञासु पुरुष जो यथार्थ जान करके इसकी उपासना करे तो परम पद को प्राप्त होता है ॥

सनत्कुमारसिद्धान्तश्चतुर्थ इह कथ्यते ।
त्रिसंज्ञकस्त्रिसमयस्त्रिलिङ्गः प्रणवः स्मृतः ॥१६॥
नवनामस्वरूपं य एवं जिज्ञासुपूरुषः ।
उपास्ते स्मानवरतं सतु मोक्षमवाप्नुयात् ॥१७॥

अर्थ—यहां चौथा सनत्कुमार का सिद्धान्त कहते हैं। ॐ की तीन संज्ञा (बहिस्सन्धि, अन्त्यसन्धि, क्रान्तसन्धि) हैं तीन काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) हैं तीन लिङ्ग (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) हैं ऐसा नौ नाम के रूपवाले ॐ की जो जिज्ञासु पुरुष सतत उपासना करता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है॥

पञ्चमो ब्रह्मनिष्ठानां सिद्धान्तः कथ्यतेऽधुना ।
त्रिस्थानरूपस्त्रिपदस्त्रिप्रज्ञः प्रणवः स्मृतः ॥१८॥
एवं ज्ञात्वा च जिज्ञासुर्य उपास्ते तमन्वहम् ।
स सर्वपापनिर्मुक्तो दुर्लभं मोक्षमाप्नुयात् ॥१९॥

अर्थ—पांचवां ब्रह्मनिष्ठों का सिद्धान्त अब कहते हैं। ॐ के तीन स्थान (हृदय, कंठ, मूर्द्धा) हैं तीन पद (जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति) हैं तीन प्रज्ञा (बहिः प्रज्ञा, अन्तःप्रज्ञा, स्वप्रज्ञा) रूप ॐ है। ऐसा जान करके जो जिज्ञासु पुरुष ॐ की नित्य उपासना करता है वह सब पापों से मुक्त होके दुर्लभ मोक्ष को प्राप्त होता है॥

शृणु पार्वति सिद्धान्तं षष्ठं पशुपतयेर्मम ।
त्रिभोगरूपः प्रणवस्त्र्यवस्थारूप एव च ॥२०॥

त्रिभोक्तृरूपश्चैवं स्यान्नवनामस्वरूपवान् ।
तमुपास्ते मुमुक्षुर्यः स परंपदमाप्नुयात् ॥२१॥

अर्थ—शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती जी ! सुनो छठा मेरा पशुपति का सिद्धान्त है । ॐ तीन भोग्य (अन्न, जल, सोम,) रूप है ॐ तीन अवस्था (शान्त जाग्रत, घोर स्वप्न, मूढ सुषुप्ति) रूप है ॐ तीन भोक्ता (अग्नि, वायु, सूर्य्य) रूप है ऐसा ओङ्कार के नो नाम स्वरूप हैं । जो मुमुक्षु पुरुष ऐसे ॐ की उपासना करता है वह परम पद को प्राप्त होता है ॥

सिद्धान्तं सप्तमं देवि विष्णुना कथितंब्रुवे ।
आत्मरूपस्त्रिस्वभावस्त्रिव्यूहः प्रणवः स्मृतः ॥२२॥
नवनाम स्वरूपं य एवं विज्ञाय पार्वति ।
उपास्तेऽहरहः सोऽयं मुमुक्षु मोक्षमाप्नुयात् ॥२३॥

अर्थ—सातवां सिद्धान्त विष्णु भगवान् ने कहा हुआ कहता हूं ॐ तीन आत्मा (बल,वीर्य,तेज) रूप है ॐ के तीन स्वभाव (ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति) हैं । ॐ के तीन व्यूह (संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध) हैं, ऐसा नो नाम स्वरूप ॐ के जानके हे पार्वती जी ! जो प्रति दिन ॐ की उपासना करता है वह मुमुक्षु पुरुष मोक्ष के प्राप्त होता है ॥

इत्थं सिद्धान्तकारैश्च सप्तभिः प्रणवस्य च ।
सिद्धान्तैः सप्तभिः प्रोक्तोपासना नवभेदतः ॥२४॥
मात्राणां तिसृणां त्रित्रिभेदात् प्रत्येकमत्र हि ।
नवापि ते त्रिषष्टिः स्युः सप्तसिद्धान्तभेदतः ॥२५

अर्थ—इस प्रकार प्रणव (ॐ) के सात सिद्धान्त कारों ने सात सिद्धान्तों से नौ भेद की उपासना कही है। यहां तीन मात्राओं के तीन२ भेद से जो नौ भेद बने वे सात सिद्धान्तों के भेद से तिरसठ ६३ होंगे॥

उपास्य एकः प्रणवः सप्तसिद्धान्तसंमतः।
ओमित्येकाक्षरं नाम तत् परब्रह्मवाचकम् ॥२६॥
नामार्थयोरभेदेन ब्रह्मरूपं तदुच्यते।
इदमेवाक्षरं ब्रह्म समुपास्य च सर्वदा ॥२७॥
वीतरागादिदोषाश्च यतयो योगिनोऽपि च।
स्मृत्वोमित्यात्मनिष्ठाश्च मुक्तिं प्रापुरनुत्तमाम् ॥२८॥
अत ओमित्यविरतं स्मरत स्मरतोमिति।
ओमिति स्मरतोङ्कारब्रह्मोपास्यं हि सर्वदा ॥२९॥

अर्थ—यह सातों सिद्धान्त कारों को संमत जो एक प्रणव (ॐ) है वही उपासना करने योग्य है। क्योंकि ॐ एक अक्षर का नाम है सो परब्रह्म का वाचक है। नाम और नामवाला (अर्थ) इनका भेद नहीं करने से अर्थात् नाम और अर्थ की एकता से यह प्रणव (ॐ) ब्रह्मरूप कहाता है। इसी अक्षर ब्रह्म की सर्वदा उपासना करके जिनके रागादि दोष मिट गये हुँ ऐसे यती और योगी लोग आत्मनिष्ठ होके ओङ्कार का स्मरण करके सर्वोत्तम मुक्ति को प्राप्त हुए। इसलिये सर्वदा ओङ्कार स्मरण करो ॐ का स्मरण करो ॐ का स्मरण करो। क्योंकि ॐ ब्रह्म की उपासना सर्वदा करने योग्य है।

पार्वत्युवाच—

भगवन् ब्रूहि कृपयान्यैर्विद्वद्भिरुपासकैः ।
यथा मात्राप्रभेदेन प्रणवोपासना कृता ॥३०॥

अर्थ—पार्वतीजी महादेवजी से पूछती हैं कि हे भगवन्! अन्य विद्वान् उपासकों ने जिस प्रकार मात्राओं के भेद से प्रणव (ॐ) की उपासना की है उसे कृपा करके कहो।

शिव उवाच—

बहुभिर्बहुधा देवि प्रणवोपासना कृता ।
ततु संक्षेपतो वक्ष्ये श्रूयतां सावधानतः ॥३१॥

अर्थ—शिवजी कहते हैं कि हे पार्वतीजी ! बहुत लोगों ने बहुत प्रकार से प्रणव (ॐ) की उपासना की है वह मैं संक्षेप से कहता हूं सावधान हो के श्रवण करो॥

समुपासित ओङ्कारो वाष्कल्येनैकमात्रिकः ।
सालर्पिकाद्दत्यार्पिभ्यां द्विमात्रः समुपासितः ॥३२॥
सार्धद्विमात्रं प्रणवं भजते नारदो मुनिः ।
त्रिमात्रमेव माण्डूक्यो मौण्डलोऽपि त्रिमात्रिकम् ॥
त्रिमात्रं सप्तऋषयस्तथा येऽध्यात्मचिन्तकाः ।
पराशरादिकास्तैश्च चतुर्मात्र उपासितः ॥३४॥
वसिष्ठो भजते सार्धचतुर्मात्रमनारतम् ।
याज्ञवल्क्यस्त्वमात्रं तु भजतेऽनुभवात् स्वकात् ॥३५

अर्थ—शाकल्य ऋषि ने ॐ की उपासना एक मात्रा-रूप जान के की है। माल ऋषि और काइल्य ऋषि ने दो मात्रा रूप जान के उपासना की है। नारद मुनि ढाई मात्रा रूप प्रणव (ॐ) को जान कर भजते हैं। माण्डूक्य ऋषि तीन मात्रारूप और मौण्ड ऋषि भी तीन मात्रा रूप प्रणव (ॐ) को भजते हैं। सत्यऋषि भी तीन मात्रा रूपही भजते हैं। और पराशर आदि अध्यात्म चिन्तक मुनि चार मात्रा रूप जान के भजते हैं वसिष्ठ जी सर्वदा साढ़े चार मात्रा रूप जान के भजते हैं। याज्ञवल्क्य जी अपने अनुभव से अमात्रा रूप अर्थात् मात्रा रूप नहीं ऐसा जान के ही भजते हैं।

एवमन्यैश्च मुनिभिर्यथानुभवमन्वहम् ।
उपासितश्च प्रणवः स्वस्वकल्पितमात्रिकः ॥३६॥
अतश्च वेदशास्त्रेभ्यो यैराचार्यैर्महर्षिभिः ।
यथानुभवमोङ्कारो यथामात्र उपासितः ॥३७॥
तत्सर्वंसफलं तेषां भजनं यत ओमिति ।
एकाद्यनेकमात्रात्ममात्रं ब्रह्मवाचकम् ॥३८॥

अर्थ—इस प्रकार और और मुनियों ने अपने अपने अनुभव के अनुसार अपनी कल्पना की हुई मात्राओं के रूप से सर्वदा प्रणव (ॐ) की उपासना की है। इसलिये जिन आचार्य और महर्षियों ने वेद और शास्त्रों से अपने अनुभव के अनुसार जितने मात्रा रूप ओङ्कार की उपासना की है यह सभी उनका भजन सफल है क्योंकि ॐ यह ब्रह्मवाचक है सो एक से लेके अनेक मात्रा रूप और अमात्रा रूप भी होसकता है।

पार्वत्युवाच भवता कृपाब्धे यदवोचि तत् ।
मुमुक्षोर्मुक्तये सर्वोत्तम मालम्बनात्मकम् ॥३९॥
प्रणवोपासनं तत्तु निर्विकल्प समाधितः ।
पूर्वं मुमुक्षुणावश्यं कर्त्तव्यमिति सिध्यति ॥४०॥
अतस्तेषांहितार्थाय प्रणवोपासनाक्रमम् ।
ब्रूहि सर्वं हि भगवन् कृपां कृत्वा ममोपरि ॥४१॥

अर्थ—पार्वतीजी बोली कि हे दयासागर आपने मुमुक्षु को मोक्ष प्राप्ति के लिये सर्वोत्तम आलम्बनरूप (सहारा) जो प्रणव (ओ३म्) की उपासना कही वह निर्विकल्प समाधि (आत्मरूपस्थिति) से पहिले मुमुक्षु को अवश्य ही कर्तव्य है यह सिद्ध होता है अतः मुमुक्षुओं के हित के लिये प्रणव (ओ३म्) की उपासना का संपूर्ण क्रम मेरे ऊपर कृपा करके कहो ॥

इति श्रुत्वा वचो देव्या उवाच भगवान् शिवः ।
यदोमित्यक्षरं ह्येकं कर्तव्यस्तज्जपोऽन्वहम् ॥४२॥
तदर्थभावना कार्या प्रणवोपासना हि सा ।
तत्प्रकारमथो वक्ष्ये सावधानतया शृणु ॥४३॥

अर्थ—ऐसा पार्वतीजी का वचन सुनके भगवान् शिवजी बोले कि हे पार्वतीजी ! जो ओ३म् यह एक अक्षर है उसका प्रति दिन जप करना और उसके अर्थकी भावना करनी यही निश्चय करके ओ३म् की उपासना है । अब उसका प्रकार कहताहूं साव-धान होके सुनो ॥

जपन्त्योमिति केचित्तु सर्वश्रवणगोचरम् ।
उपांशु केचिज्जिह्वौष्ठचालनान्नान्यगोचरम् ॥४४॥

केचित्तु मनसैवोष्ठजिह्वाचलनवर्जितम् ।
प्राणायामप्रकारेण जपन्त्यन्ये मनीषिणः ॥४५॥

अर्थ—कोई पुरुष तो ओ३म् इस प्रकार से सब लोगों को सुनाई देवे ऐसा जप करते हैं। कोई उपांशु जप करते हैं जो जीभ और होंठ को हिलाने से होता है परन्तु दूसरों को सुनाई नहीं देता। कोई तो मानस जप करते हैं जो मनही से होंठ और जीभ को बिना हिलाये ही होता है। और कोई विद्वान् प्राणायाम के प्रकार से जपते हैं॥

प्राणयामस्त्रिप्रकारः पूरकः कुम्भकस्तथा ।
रेचकस्ते कथंकारं कार्या इति च वच्म्यहम् ॥४६॥

अर्थ—प्राणायाम तीन प्रकार के हैं पूरक, कुम्भक, रेचक ये प्राणायाम कैसे करने यह भी कहता हूं॥

मुखंरुद्ध्वा नासिकाया वामच्छिद्रं च संयतः ।
संपीड्यदक्षहस्तस्थमध्यानामाद्वयेन च ॥४७॥

दक्षच्छिद्रेण नासाया वाह्यमन्तः प्रपूरयेत् ।
वायुं पूरक इत्येष प्राणायाम उदीरितः ॥४८॥

दक्षनासापुटं दक्षाङ्गुष्ठेनापि प्रपीड्य च ।
प्राणमन्तस्तु संरुन्ध्यात् कुम्भकोऽयमुदाहृतः ॥४९॥

नासावामपुटेनैवं प्राणवायुं शनैर्बहिः ।
निःसारयेद्रेचकोऽयं प्राणायाम उदीरितः ॥५०॥

अर्थ—मुख बन्द करके संयत होके नासिका के वामछिद्र को दक्षिण हाथ की मध्यमा और अनामिका इन दोनों अँगुलियों से दबा के नासिका के दक्षिण छिद्र के मार्ग से बाहर के वायु को भीतर भरना यह पूरक प्राणायाम कहाता है। अब दक्षिण नासिका के छिद्र को भी दक्षिण हाथ के अँगूठे से दबा के प्राण वायु को भीतर ही रोक रक्खे यह कुम्भक प्राणायाम कहाता है। और नासिका के वाम छिद्र को मात्र खोल के उस मार्ग से प्राण वायु को धीरे धीरे बाहर निकाले यह रेचक प्राणायाम कहाता है॥

पूरके पूरयेदुक्त्वा द्वात्रिंशद्वारमोमिति ।
कुम्भके च चतुष्षष्टिवारं वायुं तु धारयेत् ॥५१॥
उक्त्वा षोडशवारं च रेचके रेचयेच्छनैः ।
पूरकादित्रयादेकः प्राणायामो निगद्यते ॥५२॥

अर्थ—बत्तीस वार ओ३म् ऐसा (मनोमय) कहके पूरक प्राणायाम में वायु पूरण करे। कुम्भक में चौंसठ वार ओ३म् कहके वायु को रोक रक्खे। रेचक में सोलह वार ओ३म् कहके धीरे २ वायु को निकाले। इस प्रकार पूरक कुम्भ रेचक तीनों मिल के एक प्राणायाम कहाता है॥

प्राणयामाः संभवेयुर्यावन्तोऽभ्यासतोऽधिकाः ।
तावन्तः सुधिया कार्याश्चैवमभ्यासयोगतः ॥५३॥

प्राणवायुर्वशे तस्य तिष्ठेत् सदा
स्युस्तदेनांसि सर्वाण्यरं भस्मसात् ॥
स स्वयं ब्रम्हरूपश्च भूत्वा क्षितौ ।
संचरन्नाप्नुयान्मोक्षमन्ते पुनः ॥५४॥

अर्थ—इस प्रकार अभ्यास से जितने प्राणायाम अधिक हो सकें बुद्धिमान् ने उतने प्राणायाम करने ऐसे अभ्यास के योग से सदा प्राण वायु उसके वश में रहता है और उसके सब पाप शीघ्र भस्म हो जाते हैं और वह स्वयं ब्रह्मरूप होके पृथ्वी पर विचरता है फिर अन्त में मोक्ष को प्राप्त होता है॥

श्रुत्वेत्थं वचनं सहर्षमवनौ धर्मस्य सारंपरं
पापोघ्नूनमसत्तैव भगवच्छम्भोस्तुपाराद्रिजा ॥
ये चान्येऽपि महर्षयो गतमहासन्देहसन्दोहकाः
शान्तास्तद्गतमानसाः क्षणमिवाभूवँस्तु चित्रार्पिताः॥

अर्थ—ऐसा श्रीशिव भगवान् का वचन जो पृथ्वी पर परमधर्म का सारभूत है और शीघ्रही पाप को नश देनेवाला है उसको हर्ष सहित हिमाचल की कन्या पार्वती जी तथा और जो महर्षिलोग थे उन्होंने सुनके जिनके बड़े बड़े सन्देहों के समूह मिट गये वे सब शान्त होकर उसी कथा में उनका ऐसा मन लग गया कि जिससे क्षण भर मानो चित्र में लिखे हुए जैसे होगये॥

काश्यां गङ्गातटे श्वेतकेतुस्तातोपदेशतः ।
मुने महार्पितां प्राप स्मृत्वोमिति दिनत्रयम् ॥५६॥

अर्थ—हे परशुराम जी ! श्वेतकेतु काशीजी में गङ्गा के तीर पर पिता के उपदेश से तीन दिन तक ॐकार का स्मरण करके ब्रह्मर्षित्व को प्राप्त हुआ ॥

परशुराम समग्रमिदं श्रुतं
शिववचो भवतापि शुभङ्करम् ।
अथ किमन्यदिहेच्छसि वच्म्यहं
भवति यद्भवतो मनसो मुदे ॥५७॥

अर्थ—जनकराजा परशुरामजी से कहते हैं कि हे परशुरामजी ! यह कल्याण करने वाला शिवजी का वचन सब तुमने भी सुना अब और क्या चाहते हो पूछो सो मैं कहता हूं जो तुम्हारे मन को आनन्द देने वाला हो ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक-
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां पञ्चविंशः सर्गः ॥२५॥



परशुरामोऽब्रवीद्राजन् कृपया कथयाशु तत् ।
यथा ब्रह्मर्षितामाप श्वेतकेतुर्दिनत्रयात् ॥१॥

अर्थ—परशुरामजी बोले कि हे राजन् ! जिस प्रकार से श्वेतकेतु तीन दिन में ब्रह्मर्षित्व को प्राप्त हुआ यह कृपाकरके शीघ्र कहिये ॥

महर्षिरुद्दालकनामधेयो
ज्ञानिष्विहाग्र्यो निवसन् हि काश्याम् ।
आसीत् पुरा ज्ञानमवाप्तुमीयु-
र्महर्षयो यत्र च नारदाद्याः ॥२॥

अर्थ—जनकजी परशुरामजी से कहते हैं कि पहिले उद्दालक नाम के महर्षि ज्ञानियों में श्रेष्ठ काशीजी में रहते थे। जहां नारद आदि महर्षि ज्ञान प्राप्त होने के लिये (उनके पास) आते थे ॥

स श्वेतकेतुं तनयं तु वेदा
नध्यापयज्ज्ञानमदाच्च तस्मै ।
पुत्रोऽब्रवीत् तात मया त्वधीता
वेदा अथैकान्तनिवासमेत्य ॥३॥
स्मर्तुं तथा ध्यातुमितः परेशं
सर्वं विसृज्योत्सहते मनो मे ।
अथाब्रवीत् स्वं तनयं महर्षि-
र्धन्योऽसि सारं कथयामि तेऽद्य ॥४॥
शृणुष्व चित्तेन समाहितेन
यद् ब्रह्मणः प्रागुदभूत् तपस्तः ।
तं पूर्णमन्त्रं प्रणवं भजत्व-
मेकाक्षरं ब्रह्म हि वेदमूलम् ॥५॥

अर्थ—उस उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को वेद पढ़ाये और ज्ञानोपदेश किया तब पुत्र ने कहा कि हे पिता मैं वेद पढ़ चुका अब एकान्त स्थान में बैठ कर सब छोड़ के परमेश्वर का स्मरण और ध्यान करने में मेरे मन का उत्साह है। इस उपरान्त ऋषि ने अपने पुत्र से कहा कि तू धन्य है आज तुझे सारवस्तु कहता हूं सो सावधान चित्त से सुन। जो ब्रह्माजी के तप से प्रगट हुआ उस एकाक्षर ब्रह्मरूप प्रणव (ॐकार) रूपी पूर्ण मन्त्र को जो वेद का मूल है उसको भज ॥

पतश्च सर्वे प्रकटीबभूवु
मन्त्राः स मन्त्रप्रवरः प्रजप्यः ।
विना तपः सद्गुरुसेवनं वा
स्वाध्यायकालं च जपोऽस्य सिद्ध्यै ॥६॥
मन्त्रेषु येष्वस्ति न सिद्धिरेवं
शक्तिस्तथाल्पास्ति फलं प्रदातुम् ।
आद्यन्तयोस्तं प्रणवेन मन्त्रं
सुसंपुटीकृत्य जपेत् सुसिद्ध्यै ॥७॥
येनास्य मन्त्रस्य च शक्तिरुर्वी
भवेच्च तद्दैवतमत्र जन्तुः ।
सुसन्मुखीभूय फलं प्रदद्या-
दोङ्कार माहात्म्यमवर्णनीयम् ॥८॥

अर्थ—जिस ॐकार से संपूर्ण मन्त्र प्रगट हुए हैं वह ओ

मन्त्र जपने योग्य है। बिना तपके बिना सद्गुरु सेवा के और बिना स्वाध्याय के (अनध्याय में भी) इसके जप से सिद्धि होती है। जिन मन्त्रों में सिद्धि नहीं है ऐसेही जिन मन्त्रों में फल देने की शक्ति न्यून है उस मन्त्र के अन्त और आदि में ॐकार से संपुट करके जपे तो सिद्धि होती है। जिस संपुट करने से इस मन्त्र की शक्ति बढ़ जाती है और इस मन्त्र का देवता जप करनेवाले के सन्मुख होकर फल देती है तो ॐकार का माहात्म्य वर्णन नहीं कर सकते॥

कुक्षौ शिशौ तिर्यगिते प्रसूतौ
मातुर्भयं स्यात् सरले तथा न।
मन्त्रस्तथोङ्कारसुसंपुटेन
फलप्रदाता सरलः प्रजप्तुः ॥९॥

अर्थ—प्रसूति काल में पेट में बालक टेढा आने पर माता को भय होता है सीधा रहने से वैसा भय नहीं ऐसेही ॐकार के संपुट से कोई मन्त्र जपकरनेवाले को सीधा और फल देने वाला होता है॥

यज्ञस्य चारम्भसमाप्तिकाले
त्वेवं प्रजप्तः प्रणवः फलाय।
यज्ञस्य पूर्तिः प्रणवेन यत्त-
दाद्यन्तपाठः श्रुतिपूपदिष्टः ॥१०॥
मन्त्रोऽयमाकाशमयो यतोऽस्य
मध्ये हि देवा निवसन्ति सर्वे।

यो वेत्ति नैनं सनिरर्थ जन्मा
गतागतं नारकमेव तस्य ॥११॥

अर्थ—ऐसेही यज्ञ के आरम्भ और समाप्ति के काल में जपा हुआ प्रणव फल देता है। जिसलिये यज्ञ का पूर्ण होना प्रणव से है इसलिये इसका आदि और अन्त में पाठ करना वेदों में कहा है। यह प्रणव मन्त्र आकाश रूप है क्योंकि इसके बीच में सब देवता वास करते हैं। जो इसको नहीं जानता उसका जन्म व्यर्थ है वह नरक ही से आकर जन्मा और नरक ही में जायगा॥

विदन्तिये त्वोमिति जप्यमन्त्रं
परं पदं यान्ति च तेऽत्र धीराः।
जप्तुं द्विजा येऽभिलषन्ति चैतं
ते तूपवासं त्रिदिनं च कृत्वा ॥१२॥
कुशासने पूर्वमुखा निषण्णा
मौनव्रता एवमथाभ्यसन्तु।
यः पूरकः कुम्भकरेचकौ च
तैः प्राणसंयाम इहैक एव ॥१३॥

अर्थ—जो लोग जप करने योग्य ओंकार मन्त्र को जानते हैं वे मनुष्य परम पद को प्राप्त होते हैं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इस ओंकार को जपने चाहें वे पहिले तीन दिन उपवास करें, कुशासन पर पूर्वमुख होकर मौन व्रत धारण करके बैठें

फिर ऐसा अभ्यास करें। पूरक कुम्भक और रेचक मिलके यहां प्राणायाम एकही होता है ॥

पूरकेणानिलं सम्यग् द्वात्रिंशद्वारमोमिति ।
प्रजप्य पूरयेत् पश्चान्निरुन्ध्याच्च समीरणम् ॥१४॥
कुम्भकेन चतुष्षष्टिवारं प्रणवमुच्चरन् ।
जप्त्वा षोडशवारं तु प्रणवं रेचयेच्छनैः ॥१५॥
रेचकेनानिलं कार्यः प्राणायामोऽयमीदृशः ।
ततः सहस्रसङ्ख्याकं मनसा प्रणवं जपेत् ॥१६॥
द्विसन्ध्ययोरनुदिनं सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
यदिच्छति तदाप्नोति कृतकर्मफलं लभेत् ॥१७॥

अर्थ—बत्तीस वार ॐ ऐसा जप करके पूरक प्राणायाम से वायु को पूरण करे, पीछे चौंसठ वार ॐ ऐसा कहके कुंभक प्राणायाम से वायु को रोके फिर सोलह वार ॐकार का जप करके रेचक प्राणायाम से धीरे धीरे वायु को निकाले यह प्राणायाम ऐसा कहा है। प्राणायाम करने के उपरान्त मानसिक सहस्र जप ॐकार का प्रति दिन दोनों सन्ध्या (प्रातः सायङ्काल) में करे तो संपूर्ण पापों से मुक्त होता है जो इच्छा हो वह पाता है और जो कर्म करे उसके फल को पाता है ॥

तस्मात् पुत्र त्वमोङ्कारं जप नास्माद्वरः परः ।
मन्त्रोऽस्ति तज्जपादेवाहमपि श्रैष्ठ्य माप्तवान् ॥१८॥

अर्थ—तस्मात् हे पुत्र! तुम ओङ्कार को जपो इससे श्रेष्ठ

दूसरा मन्त्र नहीं है। इसके जप से ही मैं भी श्रेष्ठता को प्राप्त हुआ॥

श्वेतकेतुः पितुर्वाचमाकर्ण्य ता
तं प्रणम्याथ काश्यां हि गङ्गातटे।
संसरीस्मृत्य चोङ्कारमीशं तथा
ब्रह्मरूपोऽभवत् सोप्यथो तातवत् ॥१९॥

अर्थ—श्वेतकेतु भी पिता के उस वचन को सुनकरके पिता को नमस्कार करके फिर काशीजी में ही गङ्गाजी के तीरपर ॐकार का और परमेश्वर का वारंवार स्मरण करके अपने पिता के ऐसा ब्रह्मरूप होगया॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां षड्विंशः सर्गः॥२६॥



परशुराम उवाच—

ओंकारस्य पुनः प्रोक्तो ब्रह्मणस्तपसोद्भवः।
कथं क्वाभूत् स इति मे जनकाख्यातुमर्हति ॥१॥

अर्थ—परशुरामजी जनकराज से पूछते हैं कि पहिले आपने ब्रह्मा जी की तपस्या से ॐकार की उत्पत्ति कही यह कहां हुई, कैसे हुई? सो मुझसे कहें॥

अत्र गुप्तकथास्त्येका नैव जानाति कोपि ताम् ।
विज्ञातासीद्भगवतः शिवस्य कृपया मम ॥२॥
श्रोतुं ज्ञानकथाश्चेतस्तवात्युत्सहते यतः ।
अतो जानामि यत् तत्त्वं ज्ञानस्य कथयामितत् ॥३॥

जनक उवाच—

अर्थ—जनकजी कहते हैं कि यहां एक गुप्त कथा है उसको कोई नहीं जानता जो भगवान् शिव जी के कृपा से ज्ञात हुई और ज्ञान की कथा सुनने को तुम्हारे मन में भी बहुत उत्साह है इसलिये जो ज्ञान का तत्त्व मैं जानता हूं वह कहता हूं ॥

एकदा पार्वती शम्भुं पप्रच्छ विनयानता ।
कं देवं ध्यायति भवान् भगवन् कृपया वद ॥४॥
उवाच शम्भुर्गिरिजे त्वं मे प्रियतमा यतः ।
गुप्तं च कथयिष्ये तत् सावधानतया शृणु ॥५॥

अर्थ—एक समय पार्वती जी ने विनय से नम्र होकर महादेव जी से पूछा कि हे भगवन् आप किस देवता का ध्यान करते हैं सो कृपा करके कहिये। महादेव जी बोले कि हे पार्वती! तू मुझे अत्यन्त प्रिय है इसलिये तुझे यह गुप्त वार्ता कहता हूं सावधान होकर सुन ॥

सूक्ष्मत्वात् प्रकृतौ लीनं लयकालइदं जगत् ।
अतश्चाद्वयमासीत् तद्रहितं लक्षणेन च ॥६॥

ज्ञातुं योग्यं न बुद्ध्यातः सुप्तवत् सर्वतश्च तत् ।
निजकार्ये समर्थं तन्नासीदित्यर्थतः स्फुटम् ॥७॥

अर्थ—प्रलय काल में यह जगत् सूक्ष्म होने से प्रकृति में लीन था इसलिये दीखता नहीं था और लक्षणों से रहित था बुद्धि से जानने योग्य नहीं था इसलिये चारो ओर से सोये हुए के ऐसा था। अर्थात् स्पष्ट है कि वह अपने कार्य में समर्थ नहीं था॥

अथ प्रलयकालान्ते परमात्मा यदृच्छया ।
निजप्रणवरूपेण प्रादुरासीत् परेश्वरः ॥८॥

अर्थ—इस उपरान्त प्रलयकाल के अन्त में परमात्मा अपनी इच्छा से निज प्रणव (ॐ) रूप से प्रगट हुए॥

प्रजाः सिसृक्षुर्विविधा आदौ जलमवासृजत् ।
तत्र स्वशक्तिरूपं तद्बीजं व्यसृजताद्भुतम् ॥९॥
ततस्तत्परमेशस्य कृपयोङ्काररूपिणः ।
हैममण्डं समभवत् सहस्रार्कसमद्युतिः ॥१०॥
ततो ब्रह्माणमसृजद्यो हेतुः सर्ववस्तुनाम् ।
दुर्ग्राह्य इन्द्रियैर्नित्यः सदसद्वस्तुरूपधृक् ॥११॥

अर्थ—उस परमेश्वर ने भांति भांति की प्रजा रचने की इच्छा से पहिले जल उत्पन्न किया उसमें अपनी शक्ति के स्वरूप उस अद्भुत बीज को उत्पन्न किया फिर ॐकार रूपी परमेश्वर की कृपा से वह बीज हजार सूर्य की कान्ति के समान कान्ति वाले

सोने का अण्डा हुआ। फिर जो सर्व वस्तुओं का कारण है, इन्द्रियों से जिसका जानना अशक्य है नित्य है और सत् असत् वस्तु के नाईं रूपधारण किये हुए है उस परमेश्वर ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया ॥

ब्रह्मोपितस्तदण्डेऽब्दं ततोऽण्डं तद् द्विधाभिनत् ।
खण्डाभ्यां स्वर्गभूलोकौ ताभ्यां निर्ममईश्वरः ॥१२॥
स्वर्लोकमूर्ध्वखण्डेनाधरखण्डेन मेदिनीम् ।
मध्ये खं दिग् जलस्थानमब्धिं च समतिष्ठिपत् ॥१३॥

अर्थ—ब्रह्मा ने उस अण्डे में एक वर्ष वास किया इस उपरान्त उस अण्डे के दे। टुकड़े हुए। उस अण्डे के दे। टुकड़ों से परमेश्वर ने स्वर्ग और पृथ्वी को रचा। ऊपर के टुकड़े से स्वर्गलोक को और नीचे के टुकड़े से पृथ्वी को तथा बीच में आकाश आठ दिशा जल के स्थान (नदी आदि) और समुद्र इनको स्थापन किया ॥

अथोदभूदहङ्कारो ब्रह्मणश्चाभिमानकृत् ।
ईश्वरोस्मीति तत्रासीन्नभोवागशरीरिणी ॥१४॥
ब्रह्मन् मा कुर्वहङ्कारं स्रष्टोङ्कारस्तवेश्वरः ।
प्रादुरासीन्महाशब्दस्त्रिमात्रस्तत ओमिति ॥१५॥
यतः शब्दोऽभवत् तस्मै नम इत्याह विश्वसृट् ।
ददर्श दक्षिणे भागे सओङ्कारं सनातनम् ॥१६॥

अर्थ—इस उपरान्त मैं ईश्वर हूं ऐसा ब्रह्मा को अभिमान करनेवाला अहंकार उत्पन्न हुआ। वहां बिना शरीर की आकाश

वाणी हुई कि हे ब्रह्मा ! तू अहंकार मत कर तेरा उत्पन्न करने वाला ईश्वर ओङ्कार है। फिर ॐ ऐसा त्रिमात्रा युक्त महा-शब्द प्रगट हुआ जहां से शब्द हुआ उसको ब्रह्मा ने नमस्कार किया और अपने दक्षिण भाग में सनातन ॐ को देखा॥

यस्याकाराक्षरं चादावुकारो दक्षिणे गतः ।
ततो मकारो नादश्च चरमे सुव्यवस्थितः ॥१७॥

अर्थ—जिस ॐकार के आदि में अकार अक्षर रहा उकार उसके दक्षिण में फिर मकार और नाद अन्त में स्थित था जैसे (ओ३म्)

एवंमकारमोङ्कारमग्निवर्णसमद्युतिम् ।
ब्रह्मापश्यत् तुरीयाया अवस्थायाः परे स्थितम् ।१८।
निर्गुणं केवलं तत्त्वं सुधारूपं हि निष्कलम् ।
बाह्याभ्यन्तरहीनं तन्मायोपद्रववर्जितम् ॥१९॥
सजातीयविजातीयभेदैर्विरहितं विभुम् ।
आदिमध्यान्तरहितं संपूर्णानन्दकारणम् ॥२०॥
सत्यमानन्दममृतं परब्रह्म परायणम् ।
यन्नीललोहितं नाम्ना मृतिधर्मविवर्जितम् ॥२१॥

अर्थ—इस प्रकार ॐ को ब्रह्मा ने देखा जो अग्निवर्ण के समान कान्ति वाला और तुरीय अवस्था के परे स्थित है। निर्गुण, केवल तत्वरूप, अमृतरूप निष्कल (एकरूप) बाहर भीतर से रहित, माया के उपद्रवों से रहित सजातीय विजा-

छोड़ कर जो दूसरे का भजन करता है उसको करोड़ों कल्प भी कल्याण नहीं होगा। हे अव्यय! (जिसका नाश नहीं होता) हे देवताओं के स्वामी! मैं आपके शरणागत हूं, मेरी रक्षा कीजिये। और आपका जो शरण्य नाम है उसको सत्य कीजिये और मेरी रक्षा कीजिये॥

स्तुत्यानया प्रसन्नोऽभूत् प्रणवः स निरञ्जनः।
वाचोवाचाशरीरिण्या ब्रह्मन् पश्य महेश्वरम् ॥२७॥
एतद्रूपं तथार्णान्तर्विसकन्दस्थितो हरिः।
निःसृत्य चेक्षतां सोऽपि लिङ्गरूपं महेश्वरम् ॥२८॥

अर्थ—इस स्तुति से वह निरञ्जन प्रणव (ॐ) प्रसन्न होके आकाशवाणी से बोले कि हे ब्रह्मा! इस रूप महेश्वर को देख, ऐसेही जल के भीतर कमल के जड़ में विष्णु हैं वह भी निकल कर लिङ्गरूप महेश्वर को देखे॥

तत्क्षणे भगवान् विष्णुः प्रादुरासीज्जलान्तरात्।
पुनः खवाण्यभूत् देहे ह्यर्णचिन्हानि पश्यताम् ।२९।
अनेन मातृकावर्णज्ञानं वै प्राप्नुतां युवाम्।
मूर्ध्न्यकारोऽस्य सम्प्रोक्त श्चाकारो मुखमण्डले ॥३०॥
इकारो दक्षिणे नेत्रे ईकारो वामचक्षुषि।
उकारो दक्षिणे कर्णे ऊकारो वामकर्णके ॥३१॥
ऋकारो दक्षिणे घ्राणे ॠकारश्च तदुत्तरे।

ऌकारो दक्षिणे गण्डे ॡकारश्च तथेतरे ॥३२॥
एकारउत्तरोष्ठस्थ ऐकारश्चाधरोष्ठगः ।
ओकारऊर्ध्वदन्तस्थ औकारोऽधरदन्तगः ॥३३॥
अंजिव्हायांतु संप्रोक्तो विसर्गो ब्रह्मरन्ध्रगः ।
दक्षे वामकरे पंच कचाद्या बाहुमूलतः ॥३४॥
कूर्परे मणिबन्धे चाङ्गुलिमूले तथाग्रके ।
दक्षे सव्ये तु चरणे टताद्या पादमूलतः ॥३५॥
जानौ गुल्फे तथा मूलेङ्गुल्यास्तद्वत्तदग्रके ।
पकारो दक्षिणे पार्श्वे फकारो वामपार्श्वगः ॥३६॥
बकारः पृष्ठभागेऽस्य भकारो नाभिदेशगः ।
तस्योदरे मकारस्तु यकारो हृदये तथा ॥३७॥
रेफोऽस्यं दक्षिणे स्कन्धे लकारश्च तदुत्तरे ।
गलपृष्ठे वकारस्तु तस्य देहे प्रतिष्ठितः ॥३८॥
शकारो हृदयाद्दक्षकराङ्गुल्यग्रगस्तथा ।
षकारो हृदयात् तस्य वामहस्ताङ्गुल्याग्रगः ॥३९॥
सकारो हृदयाद्दक्षपादाङ्गुल्यग्रगस्तथा ।
हकारो हृदयाद्वामपादाङ्गुल्यग्रगः स्मृतः ॥४०॥
नाभ्यन्तं हृदयात् तस्य ळकारः सुप्रतिष्ठितः ।
क्षकारो हृदयात् तस्य मूर्धान्तं परिकीर्तितः ॥४१॥

अर्थ—उस क्षण में भगवान् विष्णु जल के भीतर से प्रगट हुए, फिर आकाशवाणी हुई कि हे ब्रह्मा! हे विष्णु! तुम दोनों महेश्वर के देह में अक्षरों के चिन्ह देखो। इससे सब अक्षरों का ज्ञान तुम दोनों को होजायगा। अकार इसके मस्तक पर है, आकार मुख के गोलाई में है। इकार दक्षिण नेत्र में है, ईकार वाम (बायां) नेत्र में है, उकार दक्षिण कर्ण में है, ऊकार बायें कर्ण में है। ऋकार दक्षिण नासिका में है, ॠकार बायें नासिका में है, ऌकार दक्षिण गण्ड (कनपटी) पर है, ॡकार बायां कनपटी पर है। एकार ऊपर के होठ पर है, ऐकार नीचे के होठ पर है, ओकार ऊपर के दाँतों पर है, औकार नीचे के दाँतों पर है। अं जिह्वा पर है, अः ब्रह्मरन्ध्र (मस्तक के मध्य स्थान तालू) में है। क दक्षिण हस्त के मूल (पखौड़ा) पर, ख दक्षिण हस्त के कूर्पर (कोहनी) पर, ग दक्षिण हस्त के मणिबन्ध (गट्टा) पर, घ दक्षिण हस्त के अँगुलियों के मूल पर, ङ दक्षिण हस्त के अँगुलियों के अग्रभाग पर है। च बायें हस्त के मूल (पखौड़ा) पर, छ बायें हस्त के कूर्पर (कोहनी) पर, ज बायें हस्त के मणिबन्ध (गट्टा) पर, झ बायें हस्त के अँगुलियों के मूलपर, ञ बायें हस्त के अँगुलियों के अग्रभाग पर। ट दक्षिण पाँव के मूल (जाँघ की जड़) पर, ठ दक्षिण पाँव के जानु (घुटना) पर, ड दक्षिण पाँव के गुल्फ (घुटनी) पर, ढ दक्षिण पाँव के अँगुलियों के मूल पर, ण दक्षिण पाँव के अँगुलियों के अग्रभाग पर। त बायें पाँव के मूल (जाँघ की जड़) पर, थ बायें पाँव के जानु (घुटना) पर, द बायें पाँव के गुल्फ (घुटनी) पर, ध बायें पाँव के अँगुलियों के मूल पर, न बायें पाँव के अँगुलियों के अग्रभाग पर।

प दक्षिण पार्श्व (कोख) पर, फ बायें पार्श्व (कोख) पर, ब पीठ पर, भ नाभि पर, [redacted] उदर (पेट) पर। य हृदय पर, र दक्षिण स्कंध (कंधा) पर, [redacted] बाया स्कंध (कंधा) पर, व गलपृष्ठ (गले के पीछे के भाग) पर, श हृदय के दाहिने हाथ के अँगुलियों के अग्रभाग तक, ष हृदय से बायें हाथ के अँगुलियों से अग्रभाग तक, [redacted] हृदय से दहिने पाँव के अँगुलियों के अग्रभाग तक, ह हृदय से बायें पाँव के अँगुलियों के अग्रभाग तक, ळ हृदय से नाभि तक, क्ष हृदय से मूर्धा (मस्तक) तक उस महेश्वर के शरीर मे हैं॥

इत्थं महेश्वरं देवं दृष्ट्वा शब्द स्वरूपिणम्।
प्रणवं परमात्मानं प्रार्थयामासतुस्तदा ॥४२॥

अर्थ—इस प्रकार उन दोनों ने महेश्वरदेव को शब्द स्वरूप देखकर ॐ परमात्मा की प्रार्थना करने लगे॥

भगवन् परमात्मँस्त्वं शङ्करोङ्काररूप भोः।
यदि प्रसन्नोऽसि कृपां कुरूपयोवयोः प्रभो ॥४३॥
श्रुत्वेत्थं वचनं भूयो बभूवाकाशभारती।
प्रसन्नाऽहमोत्ययो ब्रह्माविष्णू वाचमवोचताम् ॥४४॥
त्वं प्रसन्नोऽसि चेद्देवावाभ्यां यद्यदभीप्ससि।
तत्तत्कार्योपदेशस्तु कर्तव्यो भवतावयोः ॥४५॥

अर्थ—हे भगवन्, हे परमात्मा, हे शङ्कर, हे ओङ्कार रूप! जो आप प्रसन्न हो तो हे प्रभो हम दोनो के ऊपर कृपा करो। ऐसा वचन सुनके फिर आकाशवाणी हुई कि मैं प्रसन्न हूं।

फिर ब्रह्मा विष्णु वाणी बोले कि हे देव जो आप प्रसन्न हैं तो हम दोनों से आप जो जो चाहते हैं उस उस कार्य का उपदेश कीजिये ॥

इत्युक्ते तु पुनर्व्योमवाण्यजायत तत्र च ।
स्रष्टात्र प्रणवेऽकार उकारः पालकः स्मृतः॥४६॥
नित्यसंहारकर्ता च मकरस्तु विराजते।
विधाता भवतु स्रष्टा पालकोऽस्तु जनार्दनः॥४७॥
सृष्टिसंहारकर्तास्तु पुरोद्दयो महेश्वरः
श्रेष्ठा भवत सर्वेभ्य स्त्रयो यूयं दिवौकसः ॥४८॥
परब्रह्मः श्रेष्ठतमो युष्मत्सु च भविष्यति ।
अस्त्येषा प्रकृतिर्देवी नारायणसमाश्रिता॥४९॥
ब्रह्माण्यस्याः समुद्भूय यातु ब्रह्माणमाश्रयम् ।
अन्या च लक्ष्मीरूपेण विष्णुमाश्रित्य तिष्ठतु ॥५०॥
कालो नाम्न्यपरा शक्तिर्भगवन्तं शिवं श्रयेत् ।
सशक्तया प्रणवं यूयं भजध्वं कार्यसिद्धये ॥५१॥

अर्थ—ऐसा कहने पर फिर वहां आकाशवाणी हुई। इस ओंकार में सृष्टि का कर्ता अकार है उकार पालन करने वाला है और मकार नित्य संहार करनेवाला है। सृष्टि का रचनेहारा ब्रह्मा हो, पालन करनेहारा विष्णु हो, और जो रूप सामने देखते हो यह महेश्वर सृष्टि का संहार करनेहारा हो। तुम तीनों सब देवताओं में श्रेष्ठ हो। तुम तीनों में पर-

ब्रह्म श्रेष्ठ होगा। और यह प्रकृति देवी नारायण का आश्रय करके है इससे एक ब्रह्माणी शक्ति उत्पन्न होके ब्रह्मा का आश्रय करे, दूसरी शक्ति लक्ष्मीरूप से उत्पन्न होके विष्णु का आश्रय करके रहे, और काली नाम की तीसरी शक्ति उत्पन्न होके भगवान् शिव का आश्रय करे। हे ब्रह्मा ! हे विष्णु ! हे महेश्वर ! तुम तीनों अपने २ शक्तियों के साथ ॐ परमात्मा का स्मरण करो तुम सब लोगों का कार्य सिद्ध होगा॥

अत्र यूयं त्रयोदेवा स्तिस्रःशक्तय ईरिताः ।
सर्वैः संभूय कर्तव्यं सृष्टिकार्यं ममाज्ञया ॥५२॥

अर्थ—यहां तुम तीनों देवता और कही हुई तीनों शक्ति सभी मिल करके मेरी आज्ञा से सृष्टि का कार्य करो॥

श्रुत्वैवं वाचमोङ्कारं भगवन्तमधोक्षजः ।
ऊचे भगवदादेशं स्वीकुर्मो नियतं वयम् ॥५३॥
यत्किंचित् तत्र वक्तव्यं तद्भवान्कर्तुमर्हति ।
ततोऽन्तरिक्षादुदभूद्वचनं परमात्मनः ॥५४॥
यथेच्छथ तथाहं वो दद्यां युष्मद्धितं पदम् ।
विष्णुरूचे नमस्तुभ्यं परमात्मन् ददस्व नः ॥५५॥
शिवतत्वं ध्यानयोग्यं सुव्रताहं च सेवितुम् ।
यस्यानुष्ठानतः पूर्णं समर्थः स्यादसंशयम् ॥५६॥

अर्थ—ऐसा वचन सुनके भगवान् ॐकार से विष्णु बोले कि हे भगवान् आपकी आज्ञा हमलोग नियम से स्वीकार करेंगे

हैं शंकुद उसमें हमलोगों का कहना है वह आप करने योग्य हैं। फिर परमात्मा का वचन आकाश से निकला कि जैसा तुम चाहोगे वैसा तुम्हारा हित और इच्छित पद तुमको दूंगा। फिर विष्णु बोले कि हे परमात्मा। आपको नमस्कार है आप ध्यान के योग्य शिवतत्त्व (कल्याण तत्त्व) दीजिये, हे सुव्रत! और सेवन करनेयोग्य हो जिसकेअनुष्ठान से सब कोई निःसन्देह पूर्ण समर्थ होजावे॥

इत्युक्ते परमात्मासौ शङ्करं लोकशङ्करः।
नादात्मतत्त्वं तेभ्यस्तु प्रददौ प्रणवात्मकम्॥५७॥
ते प्राप्य परमं तत्त्वं ज्ञात्वा तद्जपन् हृदा।
श्रेयोमार्गं समाश्रित्य मन्त्रतत्त्वं च तेऽविदुः॥५८॥

अर्थ—ऐसा कहने पर वे लोक के कल्याण करने वाले परमात्मा ब्रह्मा विष्णु महेश को कल्याण कारक नादात्मतत्त्व ॐकारात्मक देते भये। उन्हीं ने परमतत्त्व को पाकर और जानकर उसका मानसिक जप किया और श्रेष्ठ मार्ग का आश्रय करके मन्त्र के तत्त्व को भी उन्हीं ने जाना॥

ततो विष्णुर्नमस्कृत्य परमेशमुदैक्षत।
अर्थो तत्त्वमसीत्येवं मन्त्रः प्रणवतोऽभवत्॥५९॥
महावाक्यात्मकः शैवो मन्त्रः पञ्चकलायुतः।
शुद्धस्फटिकसंकाशः सर्वकामार्थसाधकः॥६०॥

अर्थ—फिर विष्णु ने नमस्कार करके ऊपर परमेश्वर

को देखा इस उपरान्त ॐ तत्त्वमसि यह मन्त्र प्रणव से उत्पन्न हुआ जो महावाक्यात्मक शैवमन्त्र, पञ्चकलायुक्त, शुद्ध स्फटिक के समान, संपूर्ण काम तथा अर्थ का साधक है।

परेशानुग्रहाच्चाथ प्रणवाद्व्याहृतित्रयम् ।
प्रादुर्भूतं भूर्भुवःस्वस्ततो वेदाः प्रजज्ञिरे ॥६१॥
भूरित्यतश्च ऋग्वेदः सामाभूद्भुवइत्यतः ।
स्व इत्यतो यजुर्वेद एवं वेदत्रयं बभौ ॥६२॥

अर्थ—फिर परमात्मा के अनुग्रह से (ॐ) से तीन व्याहृति भूः भुवः स्वः ये उत्पन्न हुई फिर उससे वेद उत्पन्न हुए। भूः इससे ऋग्वेद भुवः इससे सामवेद और स्वः इससे यजुर्वेद हुआ, ऐसे तीनो वेद शोभते भये॥

ब्रह्मविष्णुमहेशेभ्यो दत्वा वेदत्रयीं विभुः ।
उवाचोङ्कारजपतो प्रसन्नोस्मि सुराधिपाः ॥६३॥
उपस्थास्यन्ति वो वेदा ब्रह्मभूता यतो हि वः ।
सर्वं गुह्यं वेदमन्त्रैस्तत्कर्मभिरवाप्स्यथ ॥६४॥

अर्थ—भगवान् ने ब्रह्मा विष्णु महेश्वर को तीनों वेद देकर कहा कि हे देवताओं! ॐ कार के जप से मैं तुमसे प्रसन्न हूं, तुमलोगों को सब वेद उपस्थित होंगे (बिना पढ़े आजा-येंगे) क्योंकि तुमलोग पूर्वोक्त जप से ब्रह्मरूप होगये। सो तुमलोग वेद मन्त्रों से तथा उनमें कहे हुए कर्मों से सब गुह्य पाजाओगे (गुह्य बात जान जाओगे)॥

वेदारम्भे तपोध्यानदानपूजादिकर्मणि ।
ओमित्येकाक्षरो मन्त्रो जप्य आदौ तथान्तिमे ॥६५॥
तस्मात् सर्वेषु मन्त्रेषु सर्वकार्येषु योजयेत् ।
प्रणवं तेन सिद्धिः स्यादोंस्मर्तातिप्रियो मम ॥६६॥

अर्थ—वेदों के आरम्भ (पढ़ने) में तथा तप ध्यान दान पूजा इत्यादि कर्मों में ॐ यह एकाक्षर मन्त्र आदि और अन्त में जपना चाहिये। तस्मात् सब मन्त्रों में सब काम में ॐकार को लगावे उससे सिद्धि होगी सारांश ॐकार का स्मरण करने वाला मुझे परम प्रिय है॥

एवमुक्त्वा ध्यानगम्योऽभवदीशास्त्रयश्च ते ।
ब्रह्मविष्णुहरा देवाश्चक्रुः कार्यं निजंनिजम् ॥६७॥
पार्वत्योङ्कारजपतः प्रसन्नो मां परात्परः ।
सर्वविद्यापतिं चक्रे जपामि तमनुक्षणम् ॥६८॥

अर्थ—ऐसा कह कर परमेश्वर अन्तर्ध्यान होगये। और वे ब्रह्मा विष्णु महेश्वर तीनों देवता अपना अपना कार्य करने लगे। हे पार्वती! ॐकार के जप से परमेश्वर ने मुझे प्रसन्न होकर सर्व विद्याओं का पति (स्वामी) करदिया। उसी ॐ कार मन्त्र को मैं प्रतिक्षण स्मरण करता हूं॥

यत्र ब्रह्मा तपस्तेपे सा काशी भूशिरोमणिः ।
ॐकारदर्शनं प्रापुर्यत्र ब्रह्मा हरिः शिवः ॥६९॥

यत्र सर्वाक्षरोद्भूतिर्यत्र वेदोद्भवोऽभवत् ।
पञ्चक्रोशात्मिका भूमिः सा काशीत्यभिधीयते ॥७०॥
अतो काशी ममापीयं बभूव परमप्रिया ।
ॐ ब्रह्मणः स्तपस्तस्यं पातुंकाशी मतो मया॥७१॥
काश्यां मृतस्य जन्तोस्तु प्रणवं स्मारयाम्यहम् ।
सर्वकर्मविनिर्मुक्ता येन मुक्तिं प्रयान्ति ते ॥७२॥

अर्थ—जहां ब्रह्मा ने तप किया वही काशी संपूर्ण भूमि की शिरोमणि है । जहां ब्रह्मा विष्णु शिव इनको ओंकार का दर्शन हुआ, जहां संपूर्ण अक्षर उत्पन्न हुए, जहां संपूर्ण वेद उत्पन्न हुए यह पांच कोस की भूमि काशी कहाती है। इसी लिये काशी भूमि मुझे भी अत्यन्त प्रिय हुई । इसी हेतु काशी की रक्षा करने के लिये मैंने ॐ ब्रह्म का तप किया । काशी में मरने वाले प्राणियों को मैं प्रणव (ओं) का स्मरण कराता हूं जिससे वे प्राणी संपूर्ण कर्मबन्धनों से छूट के मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥

ॐकारं काशिकापुर्यामतः परशुराम यः ।
जपेत् स धन्यः संसारे श्रेष्ठस्तस्माच्च चापरः॥७३॥
संसारे यावती भूमिः सर्वाभ्यः काशिकोत्तमा ।
यत्रैकः प्रणवो जप्तोऽन्यत्र लक्षगुणो भवेत् ॥७४॥
यथान्नमुर्वराभूम्या मुप्तं स्यादन्यतो वहु ।
तथा काश्यां जपाद्यस्मात् श्रेष्ठा काश्युदितान्यतः ७५

अर्थ—जनक जी कहते हैं कि हे परशुराम जी ! इसलिये काशीपुरी में जो ॐकार को जपता है वह संसार में धन्य है, उसकी अपेक्षा दूसरा कोई श्रेष्ठ नहीं है। संसार में जितनी भूमि है सभों से काशी उत्तम है वहां एक बार प्रणव का जप अन्यत्र लाखगुणों के समान है। जैसे उपजाऊ भूमि में बोया हुआ अन्न और स्थानों से बहुत होता है वैसा काशी में जप आदि कर्म का फल बहुत होता है वैसा जानो इसलिये और स्थानों से काशी श्रेष्ठ कही है॥

इति भार्गव यन्मयोदितं
परमं गोप्यमतः सुदुर्लभम्।
हरिमात्मभुवं शिवं विना
तदिदं वेत्ति न कोपि तत्त्वतः ॥७६॥

इति शिवगदितं प्रोक्तं सर्वं ते परशुराम मया।
अथ माहात्म्यं काश्याः पुनरपि वक्ष्ये शृणुष्वैतत्॥७७॥

अर्थ—हे परशुराम जी ! इस प्रकार जो मैंने कहा यह अत्यन्त गुप्त रखने की बात है अतएव बहुत दुर्लभ है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव को छोड़ के और कोई इसको यथार्थरूप से नहीं जानता। हे परशुराम जी ! ऐसा शिवजी का कहा सब तुमको मैंने कहा अब फिर काशीजी का महात्म्य कहता हूं उसको सुनो॥

ॐ इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजयश्रामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां सप्तविंशः सर्गः ॥ २७॥

परशुराम उवाच—

संवादः शिवपार्वत्योर्जनकात्यद्भुत स्त्वया ।
कथितोऽस्ति पुनः काशीमाहात्म्यं विस्तराद्वद ॥१॥

परशुरामजी कहते हैं कि हे जनकजी ! शिव पार्वतीजी का संवाद तुमने अत्यन्त अद्भुत कहा है फिर काशी का मांहात्म विस्तार से कहो ॥

जनक उवाच—

शृणुष्वावहितो भूत्वा काशीमाहात्म्य मुत्तमम् ।
वक्ष्ये तदितिहासोऽत्र प्राक्तनस्तमथो शृणु ॥२॥

अर्थ—जनकजी परशुरामजी से कहते हैं कि यह काशी का माहात्म्य सावधान होकर सुनो मैं कहता हूं यह एक प्राचीन इतिहास है उसको पहिले सुनो ॥

कर्णकीनाम नगरी रेवाया दक्षिणे तटे ।
तत्रोतथ्यकुले जातो न्यवात्सीत् कोऽपि च द्विजः ॥३॥
स्वां भार्यां पुत्रयोर्न्यस्य स च काशी मुपागमत् ।
तत्रोषित्वा चिरं कालं मृतः स्वर्गं जगाम तः ॥४॥

अर्थ—नर्मदा के दक्षिण तीर पर एक कर्णकी नाम की नगरी थी यहां उतथ्यऋषि के वंश में उत्पन्न कोई ब्राह्मण रहता था। वह अपनी स्त्री को दोनों पुत्रों के पास छोड़ के काशी को गया वहां बहुत दिन रहके शरीर को छोड़ता भया और स्वर्ग को गया ॥

श्रुत्वा पुत्रौ तु तद्वार्तां पितु र्यत् सांपरायिकम् ।
तौ चक्रतु स्तातां स्वां मातरं सुतवत्सलाम् ॥५॥
तावुद्वाह्य च मातापि
पत्यु द्रव्येण तद्धनम् ।
शिष्टं विभज्य ताभ्यां च
किंचित् स्वाभ्यर्णं मप्यधात् ॥६॥

अर्थ—पुत्रों ने उस वार्ता को सुनके पिता का क्रिया कर्म दोनो ने किया और अपनी पुत्रवत्सल माता का पालन भी किया। माता ने भी अपने पति के द्रव्य से दोनो पुत्रों का विवाह करके बचा हुआ वह धन दोनें को बांट दिया कुछ थोड़ा अपने पास भी रक्खा॥

कियत्कालं तयैवासीोन्नियाण समये पुनः ।
व्ययीकृतं धनं सर्वं पुण्यकार्येषु तत् तया ॥७॥
नोदकामैश्च तत्प्राणा स्तथापीत्यं विमृश्य च ।
ऊचतु स्तनयौ मातः कर्तव्यं किं नु शिष्यते ॥८॥
शिष्टं चेत् कथयावाभ्यां तत् कुर्वः श्रेयसे तव ।
मातोवाचावशिष्टं तु बह्वस्ति कुरुतं यदि ॥९॥
ज्येष्ठः सुतोऽब्रवी दम्ब
वद सत्यं करोमि तत् ।
माताऽब्रवीन्ममेच्छासी यत्
काशीं यामि जात्वहम् ॥१०॥

स मे मनोरथः पूर्णो

नासीन्मृत्यु रुपास्थितः ।

मदस्थि काश्यां गङ्गायां

मोक्ष्ये क्षेप्स्यसि चेत् सुत ॥११॥

अर्थ—कुछ काल तक वैसी ही रही फिर मरने के समय उसने वह सब धन पुण्य में खरच करदिया तथापि उसके प्राण न निकले ऐसा सोच के दोनों पुत्र बोले कि हे माता अब क्या करना शेष है जो शेष हो वह हम दोनों को कहो जो तुम्हारे कल्याण के लिये करें। माता ने कहा कि जो तुम दोनों करो तो बहुत ही श्रेय है। फिर ज्येष्ठ पुत्र बोला कि हे माता कहो उसको सत्यही मैं करूंगा। माता ने कहा कि मेरी इच्छा थी कि कभी मैं काशीजी जाऊं यह मेरा मनोरथ पूरा नहीं हुआ और मृत्यु का समय आ गया। अब जो मेरी अस्थि (हड्डी) काशीजी में गङ्गा में डाल दो तो मुक्त हो जाऊं।

श्रुत्वैवं मातृवचनं पुत्रः प्रोवाच तां पुनः ।
मातः सत्येन ते वच्मि तत् करिष्ये यदिच्छसि १२॥
प्राणास्त्यज सुखेन त्वं त्यक्त्वा सन्देह मात्मनः ।
पूर्वं त्वदुक्तं कृत्वान्यत् करिष्ये तद्व्रतं मम ॥१३॥
एव मुक्त्वा स्वहस्तं तु मातृहस्ते निधाय च ।
प्रतिज्ञा मकरोत् पश्चा न्माता तत्याज विग्रहम् १४

अर्थ—ऐसा माता का वचन सुनके फिर पुत्र उसे बोला कि हे माता मैं सत्य से कहता हूं कि जो तू चाहती है वह

करूंगा । तूं अपना सन्देह छोड़के सुख से प्राणों को छोड़ । पहिले तेरा कहा हुआ करके फिर दूसरा काम करूंगा यह मेरा व्रत है । ऐसा कहके माता के हाथ पर अपना हाथ रखके प्रतिज्ञा करता भया । पीछे माता ने अपने शरीर को छोड़ा ॥

तदौर्ध्वदेहिकं पुत्रः स्वां भार्यां मनुजे तथा ।
संस्थाप्य काशीयात्रार्थं सामग्रीं मुमुयोज्यव ॥१५॥
ज्येष्ठः पुत्रः सुवादाख्यो गृहीत्वा मातुरस्थि च ।
कतिचित्सेवकैः सार्धं तीर्थकामनया ययौ ॥१६॥
स्त्रीभ्रातृपुत्रानाश्वास्य
स्वमातुः प्रियकाम्यया ।
वेदमन्त्रान् पठन् पाठान्
मङ्गल्यान् निर्गतो गृहात् ॥१७॥

अर्थ—पुत्र माता की क्रिया कर्म करके और अपने स्त्री को अपने छोटे भाई के पास सौंप के काशीयात्रा के लिये सामग्री इकट्ठा करता भया । ज्येष्ट पुत्र जिसका नाम सुवाद था वह माता की अस्थि (हड्डी) लेके कितने ही सेवकों के साथ तीर्थ की इच्छा से चला । स्त्री भाई और पुत्रों को आशा भरोसा दे अपने माता का प्रिय करने की इच्छा से वेदमन्त्र और माङ्गलिक पाठों को पढ़ता हुआ घर से निकला ॥

तदान्हि योजनं गत्वा ग्राममेकं प्रविश्य च ।
विप्रस्य कस्यचिद् गेहे निवास मकरोत् स च १८॥

कृत्वा सन्ध्यावन्दनं तु रात्रियाते द्विनाडिके ।
पुरातना ज्ञानकथाः श्रावयामास सेवकम् ॥१९॥

अर्थ—उस दिन एक योजन (चार कोस) जा के एक गांव में प्रवेश करके किसी ब्राह्मण के घर में उसने निवास किया। दो घड़ी रात बीतने पर सन्ध्या वन्दन करके पुरानी ज्ञान की कथा सेवकों को सुनाता भया ॥

दृष्टं तत्रैक माश्चर्यं गृहेशो गृहमागतः ।
दुग्धा न किं गौ रित्युक्त्वा स्वां भार्यां धेनुमङ्गणे २०
निबद्धां दोग्धु मायातो वत्सं मुक्त्वाह्वयत् स्त्रियम् ।
दृष्ट्वा च ता मनायान्तीं येते बद्धुं स तर्णकम् ॥२१॥

अर्थ—उसने वहां एक आश्चर्य देखा कि घर का मालिक घर में आया और अपनी स्त्री से (क्या गौ नहीं दूही) ऐसा कहके आंगन में बँधीहुई गौ को दूहने को आया। बच्चे को छोड़ के स्त्री को पुकारा। उसको नहीं आती हुई देख के वह स्वयं बछड़े के बांधने का यत्न करता भया ॥

वत्सेन कर्षता पादाघात स्तत्पदयोः कृतः ।
क्रोधेन तत्क्षणे विप्र स्तं यष्ट्या ताडयद्दृढ़ ॥२२॥
स तदा ताडितो वत्सः स्थेयान्न भूत्वा तदास्थितः ।
दुग्ध्वापि गावं विप्रोऽसौ वत्सं पातुं नचामुचत् २३॥

अर्थ—बछड़े ने खींचते हुए उस ब्राह्मण के पैर पर पैर से मारा, उस समय ब्राह्मण ने क्रोध से उस बछड़े को मजबूत

मारा। वह ताड़न किया हुआ बछड़ा तब अत्यन्त स्थिर होके रहा। उस ब्राह्मण ने गै। को दूह करके भी बछड़े को पीने के लिये नहीं छोड़ा ॥

धेनू रुरोद तद्दुःखात् तद्दृष्ट्वा तर्णकोऽब्रवीत् ।
किं तवोपस्थितं दुःखं मातः किमिति रोदिषि ॥२४
तच्छ्रुत्वोवाच गौर्दुःखं वत्साहं वक्तुमक्षमा ।
तदेव मे महद्दुःखं यद् विप्रस्त्वा मताडयत् ॥२५॥

अर्थ—उस दुःख से गैं। रोने लगी यह देख के बछड़ा बोला कि हे माता तुझे क्या दुःख उपस्थित हुआ क्यों रोती है। यह सुनके गै। बोली कि हे बेटा। मैं दुःख कहने को समर्थ नहीं हूं। यही मुझे दुःख बड़ा है जो तुझे ब्राह्मण ने मारा ॥

श्रुत्वा तदब्रवीद्वत्सः किं शोकेन शमं व्रज ।
किमु कुर्मः क यामश्च पतिताः कर्मबन्धने ॥२६॥
यद्या किंचित् कृतं पूर्वं तदेवाद्योपभुज्यते ।
एतत्कर्म वशीभूय यथेच्छासि तथा कुरु ॥२७॥
हसन् करोति कर्माणि प्राणी भुङ्क्ते च तद्रुवन् ।
कर्मणैवसुखं दुःखं भुङ्क्तेऽतः कर्मपूज्यते ॥२८॥
कर्मण्येव स्थितं विश्वं त्वमहं प्राणिनोऽखिलाः ।
स्वे स्वे कर्मणि बद्धास्म मा शुच स्त्वं जनन्यतः२९॥

अर्थ—यह सुनके बछड़ा बोला कि हे माता शोक करने से क्या है शान्त होओ। अपने क्या करें कहां जायें कर्म बन्धन

में पड़े हैं। जो कुछ पहिले किया है वही आज भोगते हैं। अब इस कर्म के वश होके जो चाहो सो करो। प्राणी हँसते हुए कर्मों को करता है और रोते हुए उसको भुगतता है कर्म ही से सुख दुःख को भोगता है इसी से कर्म पूजित है। कर्मही में जगत स्थित है। तू मैं और सब प्राणी अनेक २ कर्म में फँसे हैं इसलिये हे माता तू शोक मत कर॥

वत्सस्य वचनं श्रुत्वा गौरूचे वत्सवेद्मि तत्।
यद्यप्यत्र प्रजाः सर्वाः कर्माधीनास्तथापि च ॥३०॥
ईशमाया वशीभूय विलपामि पुनः पुनः।
तच्चित्रं यद्रुदित्वापि दुःखं शाम्यति नो हृदः ॥३१॥
इति मातृवचः श्रुत्वा वत्सो वचन मब्रवीत्।
चेदेवं वेत्सि किमिति रोदने क्रियते त्वया ॥३२॥
रुदितेऽपिच का सिद्धि र्मात दुःखमतस्त्यज।
यदशक्यप्रतीकारं दुःखं तद्भोग्य मेवहि ॥३३॥

अर्थ—बछड़े का वचन सुन के गौ बोली कि हे बेटा! यह मैं जानती हूं। यद्यपि इहलोक में सब प्रजा कर्मही के अधीन हैं तथापि परमेश्वर की माया के वश होकर फिर फिर विलाप करती हूं। यही आश्चर्य है कि जो रो करके भी हृदय का दुःख नहीं मिटता। ऐसा माता का वचन सुनके बछड़ा बोला कि हे माता! जो ऐसा जानती है तो क्यों रोती है। रोने पर भी क्या सिद्धि है इसलिये हे मातः! दुःख छोड़ो। जिस दुःख के मिटाने का उपाय नहीं उसको भोगनाही चाहिये॥

तच्छ्रुत्वा गोर्जगादेदं मद्दुःखं तु तदेव हि ।
विनङ्क्ष्यति यदा विप्रो ऽप्येवं दुःखमवाप्स्यति २४॥
अतस्तादृक् स्वयं दुःख मस्मै दास्याम्यहं तदा ।
पुत्रजन्यं दुखमेवं भवतीत्येष वेत्स्यति ॥२५॥
प्रात रेवाहे शृङ्गाभ्यां हनिष्ये ब्राह्मणात्मजम् ।
सोऽप्याहतो मया प्राणान् मोक्ष्यते नात्र संशयः२६

अर्थ—यह सुनके गौ यह बोली कि मेरा दुःख तो तभी मिटेगा जब ब्राह्मण भी ऐसाही दुःख पावेगा। इसलिये वैसा दुःख मैं इसको स्वयं दूंगी तब वह जानेगा कि पुत्रजन्य दुःख ऐसा होता है। प्रातःकाल ही मैं सींगों से ब्राह्मण के पुत्र को मारूंगी सो भी मेरे मारने से प्राणों को छोड़ देगा इसमें सन्देह नहीं है॥

एवमुक्ते ऽब्रवीद्वत्सो मातः प्राक्तनकर्म तु ।
इत्थं हि भुज्यते किं नु ब्रह्महत्याफलं भवेत् ॥२७॥
तदशक्यं वेत्तु मता विप्रश्चेद्धन्ति हन्तु माम् ।
स स्वकर्मफलं भुञ्ज्यात् त्वं दुःखीयसि किं वृथा ३८

अर्थ—ऐसा कहने पर फिर बछड़ा बोला कि हे माता पूर्व कर्म तो इस प्रकार भोगते हो फिर ब्रह्महत्या का फल क्या होगा सो जान नहीं सकते। इसलिये ब्राह्मण मुझे मारे तो मारे वह अपने कर्म को भोगेगा तू क्यों वृथा दुःख करती है॥

सत्कर्मणैति स्व श्वासत्कर्मणा निरयं पुनः ।
मुक्तिं कर्मक्षया देति जन्म स्यात् कर्मसंचयात् ३९
नष्टे कर्मणि संसारः किंस्यान्नैव कदापि न ।
एवं ज्ञात्वापि किं दुष्टं कर्म कर्तुं त्व मुद्यता ॥४०॥
माता त्वं मे सुतोऽहंते इति मिथ्यैव जल्पनम् ।
का माता कः पिता वन्धुः स्वामी वा वालकोऽपि वा ४१

अर्थ — अच्छे कर्म से मनुष्य स्वर्ग में फिर बुरे कर्म से नरक में जाता है कर्मों का क्षय होने से मुक्ति होती है और कर्मों के संचय से जन्म होता है कर्मक्षय होने से फिर क्या संसार होगा? नहीं कदापि नहीं होगा। ऐसा जान के भी तूं दुष्टकर्म करने को क्यों उद्यत हुई है। तू मेरी माता मैं तेरा पुत्र यह तेरा कहना मिथ्याही है। कौन माता कौन पिता कौन बन्धु कौन स्वामी अथवा कौन बालक है॥

त्यज दुःख मितिज्ञात्वा शुभकर्मा चरोपासि ।
गौरूवे ऽहमिदं वेद्मि परं मया गरीयसी ॥४२॥
त्यक्तुमिच्छाम्यहं मायां सातु मांन विमुञ्चति ।
त्वद्दुखं यन्मया दृष्टं दह्ये तेन पुनः पुनः ॥४३॥
यदुक्तं तत् करिष्यामि ब्रह्महत्यापि सेत्स्पति ।
ब्रह्महत्या यतो नश्ये द्वेद्मि तत् स्थानमप्यहम् ॥४४
स्याद्ब्रह्महत्या कायः श्याम स्त न्नाशतः सितः ।
इत्याग्रहवचः श्रुत्वा मातु र्वतसोऽब्रवीदिदम् ॥४५॥

अर्थ—ऐसा जानके दुःख छोड़ो और प्रातःकाल में अच्छा काम करो। गौ बोली कि यह मैं जानती हूं परन्तु माया बलवान है। मैं माया को छोड़ने चाहती हूं परन्तु वह माया मुझे नहीं छोड़ती तेरा दुःख जो मैंने देखा है उससे बारम्बार मैं जली जाती हूं। इसलिये जो मैंने कहा है वह करूंगी फिर ब्रह्महत्या भी दूर हो जायगी। ब्रह्महत्या जहां से नष्ट होगी वह स्थान भी मैं जानती हूं। ब्रह्महत्या से शरीर श्याम होगा उसके मिटने से फिर श्वेत होगा। ऐसा माता का आग्रह का वचन सुनके बछड़ा यह बोला॥

अशक्यं भावि संरोद्धुं स्थानं त्वघहरं वद।
साब्रवीद्वत्स यद्वेद्मितद्वदाम्य धुनातव ॥४६॥
पूर्वं परमहंसौ द्वावत्रागत्य स्थितौ तयोः।
गोष्ठयो बभूवु र्ज्ञानस्य वेदपाठपुरस्सरम् ॥४७॥
तत्रैकमपरः प्राह ब्रह्महत्यादि पापकृत्।
ॐकार मुच्चरन्न काश्यां गङ्गास्नानं करोति चेत्॥४८॥
वार्ता का त्वेकहत्याया लक्षहत्योद्धृति र्भवेत्।
मन्त्रेषु प्रणवः श्रेयान् काशी श्रेष्ठा च भूमि षु॥४९॥
वत्स मे तत्र सर्वापि विनश्येत् पाप संहतिः।
इति मातृवचः श्रुत्वा मौनं वत्सोऽप्य शिश्रयत्॥५०॥

अर्थ—हे माता! भावी रोकना अशक्य है परन्तु पापदूर करने वाला स्थान तो कहो। गौ बोली कि ऐ बेटा जो मैं।

जानती हूं यह अब तुझे कहती हूं पहिले दो परमहंस यहां आकर रहे उनको ज्ञान की बातें वेद पढ़ पढ़ के हुई। उनमें एक बोला कि ब्रह्महत्यादि पाप करनेवाला ॐकार को पढ़ता हुआ काशी में जो गङ्गास्नान करे तो एक हत्या की क्या बात है लाख हत्या का उद्धार होजायगा। मन्त्रों में श्रेष्ठ प्रणव (ॐ) है और भूमि में श्रेष्ठ काशी है। गौ कहती है कि हे बेटा। यहां मेरा सब पाप का समूह दूर हो जायगा। ऐसा मां का वचन सुनके बछड़े ने मौन का आश्रय किया (चुप रहा)॥

श्रुत्वा सुवादः संवादमेतयो रोमहर्षणम्।
अद्भुतं तदुपः कृत्यं दृष्ट्वा निरचिनोद्गमम् ॥५१॥
पशुभाषा भवेत्सीत् स विप्रः सम्यक्तया ततः।
अजानात् पण्डितो ज्ञानी तमुदन्तं च वेदवित्॥५२॥

अर्थ—सुवाद पथिक ब्राह्मण ने इन दोनों का रोमाञ्च खड़ा करने वाला सम्वाद सुनके वह प्रातःकाल का अद्भुत कृत्य देख कोही जाने का निश्चय किया। वह ब्राह्मण पशु भाषा को उत्तम प्रकार से जानता था पण्डित था ज्ञानी था और वेद जानने वाला था इसलिये उस वृत्तान्त को उसने जाना।

जनक उवाच—

सुवादमवदत् प्रातरुत्थाय गृहनायकः।
पथिकोत्तिष्ठ किं शेषे प्रभातम् भवेत् किल ॥५३॥
ऊचे सुवाद उत्थाय न शयेऽहं समुत्थितः।
रात्रावनुचरस्यासीच्छरीरे महती व्यथा ॥५४॥

विलम्ब्यते ततो यातुं यास्यामि च मुहूर्ततः ।
एवं मिषं समाख्याय स प्रातःस्मरणे रतः ॥५५॥

अर्थ—जनक जी परशुरामजी से कहते हैं कि प्रातःकाल घर का मालिक उठके मुसाफिर से बोला कि हे पथिक उठो क्या सोते हो। निश्चय से प्रातःकाल हुआ। मुसाफिर उठ कर बोला कि मैं सोता नहीं हूं उठा हूं रात को सेवक के शरीर में पीड़ा पैदा हुई। उससे जाने को देर करता हूं दो घड़ी में जाऊंगा। ऐसा बहाना कहके वह प्रातःस्मरण करने में लगा।

गृहाधीशः सुतं प्रोचो यामि कार्य वशात् कचित् ।
गोदोहसमयः प्राप्तो दुह्यतां गौरथा व्रजत् ॥५६॥

अर्थ—घर का स्वामी पुत्र से बोला मैं कहीं काम से जाता हूं। गौ दुहने का समय आया गौ दुहो यह कहके गया॥

पुत्रेणोत्थाय मुमुचे वत्सो गोदोहनार्थिना ।
गोदोहनार्थमायाता तन्माता तत्क्षणे स्वयम् ॥५७॥
वत्सं निबन्धता वत्सः कीलदण्डेन ताडितः ।
पुत्रेण तत्क्षणे क्रुद्धा गौस्तं शृङ्गेण चाहनत् ॥५८॥
व्यथितो मूर्छितो बालः स मर्माणि हतस्तया ।
पपात लोका अवदन् गवा बालो निपातितः ॥५९॥

अर्थ—गौ दुहने की इच्छा से पुत्र ने उठ कर बछड़े को छोड़ा उस समय उसकी माता आप गौ दुहने को आई। पुत्र ने बछड़े को बांधते हुए खूंटे के डंडे से बछड़े को मारा उस

समय गौ ने रिस करके उस बालक को सींग से मारा। वह बालक उस गौ से मर्म में चोट खाकर व्यथा को पाय और मूर्छा को प्राप्त होकर गिरा। लोग कहने लगे कि गौ ने बालक को मारा॥

यावन्मात्रादयः प्रोचुर्जलमानीयतां लघु।
पाय याथ यतस्वेति तावदम्रियतात्र सः ॥६०॥
बालस्य मरणेनात्र हाहाकारो महानभूत्।
अत्रान्तरेऽमुचद्गोस्तु रज्जुं पथिकसेवकः ॥६१॥
तत्क्षणे श्वेतवर्णा गौः श्यामत्वम भजत् क्षणात्।
तदा लोका मिथः प्रोचुः कृष्णाभूद्गौः सिताप्यघात् ६२

अर्थ—जब तक उस बालक की माता आदि कहने लगे कि जल शीघ्र लाओ जल पिलाओ यत्न करो, तबतक वह मर गया। बालक के मरने से वहां बड़ा हाहाकार हुआ। इसके बीच में पथिक के सेवक ने गौ की रस्सी खोलदी। उसी क्षण में श्वेतवर्ण गौ क्षण में श्याम होगई तब लोग आपस में बोलने कि श्वेत गौ भी पाप से काली हो गई॥

पथिकोऽपि तदाश्चर्यं दृष्ट्वा प्रास्थित सत्वरम्।
यत्र गौरगमत् तत्र सानुगः स्वयमन्वगात् ॥६३॥
सा गौरुल्लिप्य लाङ्गूलं ययौ वाराणसीपथा।
एतस्मिन्नन्तरे काचित् सुन्दर्यागत्य चाब्रवीत् ॥६४॥

अर्थ—पथिक भी यह आश्चर्य देख के शीघ्रही वहां से

चला जहां गौ गई वहां अपने सेवक के साथ आप भी पीछे चला। वह गौ पूंछ उठा के काशी के मार्ग से चली इसी के बीच में कोई स्त्री आकर बोली ॥

क प्रस्थितोऽसि विप्रेन्द्र ब्राह्मणस्तामथाब्रवीत् ।
क्षेप्तुं मात्रस्थि गङ्गायां काशीयातास्मि सुन्दरि॥६५॥
साब्रवीद्विप्र मात्रस्थि क्षिपत्वं नर्मदाजले ।
स्वर्गं यास्यति ते माता ब्राह्मणस्तां तदाब्रवीत् ॥६६॥
क यासि सुन्दरि त्वं का संपूर्ण गुण संयुता ।
साब्रवीद्विप्र गङ्गास्मि याम्यहं नर्मदातटम् ॥६७॥
प्रत्यब्दं नर्मदा स्नातुमेकवारं व्रजाम्यहम् ।
वैशाखशुक्लसप्तम्या दिवसः सोयवर्तते ॥६८॥
अद्य स्नातुर्नर्मदायां गङ्गास्नान फलंभवेत् ।
सागङ्गा विप्र मुक्त्वेत्थं तत्रै वान्तर्हिताभवत् ॥६९॥

अर्थ—हे ब्राह्मण ! तू कहां चला फिर उससे ब्राह्मण बोला-कि हे सुन्दरी माता की अस्थि गङ्गा में डालने के लिये काशी जाऊंगा। तब वह स्त्री बोली कि हे ब्राह्मण तू नर्मदा के जल में माता की अस्थि डाल तेरी माता स्वर्ग में जायगी। तब उससे ब्राह्मण बोला कि हे सुन्दरी तू कौन है और कहां जाती है संपूर्ण गुणों से युक्त है। स्त्री बोली कि हे ब्राह्मण मैं गङ्गा हूं नर्मदा के तीर जाती हूं प्रतिवर्ष वैशाख शुक्लसप्तमी को एक बार नर्मदा स्नान करने को जाती हूं। यह दिन आज

है। आज नर्मदा का स्नान करने वाला गङ्गा स्नान के फल को पाता है। वह गङ्गा ऐसा ब्राह्मण से कहके वहीं अन्तर्ध्यान हो गई॥

धावित्वा निकटे गत्वा विप्रः प्रोवाच गां प्रति।
वहुदूरे स्थिता काशी मायासीस्तत्र धेनुके ॥७०॥
स्नाह्यद्य नर्मदायां त्वं सर्वपापात् प्रमुच्यसे।
तच्छ्रुत्वा गौः परावृत्य स्मरन्ती प्रणवं मुहुः ॥७१॥
नर्मदाम्भसि सुस्नात्वा मुक्तासीत् पाप संचयात्।
पूर्ववत् तत्क्षणाच्छ्वेता भूत्वा यातास्वकं गृहम् ॥७२॥

अर्थ—ब्राह्मण दौड़ के गौ के पास जाकर बोला कि हे गौ काशी बहुत दूर पर है वहां मत जा आज तू नर्मदा में स्नान कर सब पापों से छूट जायगी। गौ वह सुन के पलट के बार बार ॐकार का स्मरण करती हुई नर्मदा के जल में स्नान करके पापों के समूह से मुक्त हुई। उसी समय पूर्ववत श्वेत वर्ण होके अपने घर गई॥

विप्रो ऽपि नर्मदा तोये स्नात्वा वाराणसी ययौ।
मातुरुक्तानुसारेण तदभीष्टार्थसिद्धये ॥७३॥
स प्राप्य काशीं प्रणवमुच्चरन् ब्राह्मणोमुहुः।
तत्र स्वमातुरस्थीनि भक्त्या गङ्गाजलेऽक्षिपत् ॥७४॥
तदैव प्राप्यदिव्याङ्गं तन्माता स्वमदर्शयत्।
अभिनन्द्यादिषा पुत्रं निष्पापा स्वर्ग तिं गता॥७५॥

अर्थ—ब्राह्मण भी नर्मदा के जल में स्नान करके काशी को माता के कहने के अनुसार उसके इष्ट अर्थ सिद्ध होने के लिये चला। काशी में जाके बार बार ॐ कार का उच्चारण करता हुआ वहां भक्ति से माता की अस्थि को गङ्गा के जल में डालता भया। उसी समय उसकी माता दिव्य देह को पा के पुत्र के प्रति अपने को दिखलाती भई। पुत्र को आशिर्वाद देकर पाप रहित होके स्वर्ग में गई॥

स्वर्यान्ती तनयं जगादच वचोधन्योऽसियत्पावितः।
स्वोवंशः कृतकृत्यतामुपगतो धन्यं कुलं तद्भवेत्॥७६॥
एवं यत्र भवेत् सुतः प्रणवसंस्मर्ताच वाराणसी।
गङ्गास्नानरतस्तथा पितृगणोद्धर्ता सुरार्चापरः॥७७॥

अर्थ—वह माता स्वर्ग में जाती हुई पुत्र से वचन भी बोली कि हे पुत्र तू धन्य है जो तूने अपना वंश पवित्र किया, तू कृतकृत्य होगया। वह कुल धन्य होगा जहां ऐसा पुत्र उत्पन्न हो जो प्रणव (ॐ) का स्मरण करने वाला काशी में गङ्गा स्नान करनेवाला तथा पितृगणों का उद्धार करने वाला और देव पूजन में तत्पर हो॥

जनक उवाच—

प्रणवस्य वर्णितं ते, माहात्म्यं काशिकायश्च।
गङ्गाया रेवाया अथ यच्छुश्रूषसे वदतत्॥७८॥

अर्थ—जनकजी परशुरामजी से कहते हैं कि तुमको

ॐकार का काशी का गङ्गा का और नर्मदा का महात्म्य वर्णन किया अब जो सुनने चाहते हो सो कहो ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां अष्टविंशः सर्गः ॥२८॥



परशुरामउवाच —

राजन्तुश्रं परं ज्ञानंत्वया यच्छ्रवणादहम् ।
प्रीतोऽस्मि कृपया धर्मान् गृहस्थानावदाधुना ॥१॥

अर्थ—परशुराम जी बोले कि हे राजन आपने श्रेष्ठ ज्ञान कहा जिसको सुन कर मैं प्रसन्न हुआ आप कृपा करके गृहस्थों के धर्मों को कहिये ॥

जनक उवाच—

गृहस्थाश्रम धर्मांश्चवक्ष्ये परशुरामतान् ।
सावधाने न मनसा शृणुष्व सुधियां वर ॥२॥

अर्थ—जनक राजा बोले कि हे परशुराम जी गृहस्थाश्रम के धर्मों को भी कहता हूं उनको सावधान चित्त सुनो, आप विद्वानों में श्रेष्ठ हैं ॥

शयीत चेत् पूर्वशिरा विधा लाभं सुखानिच ।
आयुर्वृद्धि मवाक् शीर्षश्चिन्तां प्रत्यक्शिरा अपि ।३।

मृत्युमुत्तरशीर्षश्च प्राप्नुतेऽभ्यासयगतः ।
रवेरस्तात् परं भानूदयं यावन्निकेतने ॥४॥
दीपा ज्वलति चेत् तत्र दारिद्र्यं जातु नो भवेत् ।
हान्यै प्रत्यगवाग्वक्त्रः शुभो दीपोऽन्यदिङ्मुखः ॥५॥

अर्थ—पूर्व की ओर सिर करके सोने से विद्या लाभ और सुख होता है दक्षिण में सिर कर सोने से आयुष्य बढ़ता है पश्चिम में सिर करके सोने से चिन्ता और उत्तर में सिर करके सोने से मृत्यु होता है इसका सर्वदा अभ्यास करने से ऐसा फल होता है। सूर्यास्त के उपरान्त सूर्योदय पर्यन्त घर में दीया जलता हो तो वहां दारिद्र्य कभी नहीं होता। पश्चिम और दक्षिण में दीयाका मुंह करने से हानि और अन्य दिशा में करने से शुभ होता है॥

शय्यायाः शुचिता पुंसः कार्यावहितया स्त्रिया ।
रात्रौ यामात् परं शस्तं न पूर्वं न दिवा रतम् ॥६॥

अर्थ—स्त्रीने सावधान होकर पुरुष के सेज की पवित्रता रखनी चाहिये पहर रात बीतने पर स्त्री सङ्ग करना शुभ है पहिले अथवा दिन को शुभ नहीं है।

चतुर्विंशति वर्षो ना स्त्री चेत् षोडशवार्षिकी ।
गर्भाधानं तदा युक्तं न्यूने सन्ततिहानिदम् ॥७॥

अर्थ—चौबीस बरस का पुरुष और स्त्री सोरह बरस की हो तब गर्भाधान करना ठीक है न्यून वय रहने से सन्तान की हानि होती है।

स्त्रिया रजोदर्शनाहात् स्थ तव्यं ब्रह्मचर्यतः ।
आचतुर्थदिनं तत्र हास्यं भूल्लेखनं नखैः ॥८॥
दिवास्वापोऽञ्जनं स्नानमभ्यङ्गो रोदनं तथा ।
वर्ज्यं नखोत्कन्तनं च परपूरुषदर्शनम् ॥९॥

अर्थ—स्त्री ने रजोदर्शन होने से चारदिन तक ब्रह्मचर्य से रहना । और हंसना नख से भूमि को खोदना दिन को सोना आखों में अञ्जन लगाना स्नान करना शरीर में तेल लगाना रोना और नख काटना तथा पर पुरुष को देखना इतना करना नहीं चाहिये ॥

शयीत कुशशय्यायामूर्णावस्त्रेषु वा पुनः ।
पायसं संयताभीयान्न गृहोपस्करं स्पृशेत् ॥१०॥

अर्थ—रजस्वला स्त्री चार दिन तक कुशों की सेज पर सोवे अथवा ऊनी वस्त्र पर सोवे संयम से रहे खीर भोजन करे और घर की किसी वस्तु को न छूवे ॥

प्रथमेऽहनि चाराडाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी ।
तृतीये रजकी प्रोक्ता चतुर्थे हनि शुद्ध्यति ॥११॥

अर्थ—रजस्वला स्त्री प्रथम दिन चण्डाली दूसरे दिन ब्रह्महत्यारी तीसरे दिन धोबिन जैसे रहती है और चौथे दिन (स्पर्श दोष से) शुद्ध होती है॥

सा चतुर्थेऽहनि स्नात्वा धौतं वस्त्रं विभूषणान् ।
धारयेत् स्वस्तिमंत्रैस्तु पश्येत् पत्युर्मुखं पुरा १२॥

अर्थ—रजस्वला स्त्री चौथे दिन स्नान करके धोई धोती गहने आदि पहने। स्वस्तिवाचन के मंत्रो को पढ़ कर पहिले पति का मुख देखे॥

स्वभावादेव नारीणां मासिमास्यार्तवं भवेत् ।
आषोडशाहं तत् प्रोक्तं तत्र स्त्रीगमने विधिः १३॥

अर्थ—स्त्रियों को स्वभावही से महीने महीने में, रजोदर्शन होता है। उसका समय सोरह दिन तक है। उसमें स्त्री संग करने का विधि है॥

चतस्रोरात्रयश्चाद्या रात्रिरेकादशी तथा ।
त्रयोदशी च वर्ज्याः स्युः प्रशस्ता दशरात्रयः॥१४॥

अर्थ—पहिले चार और ग्यारहवी तथा तेरहवीं ये रात्रि स्त्रीसंग में वर्ज्य हैं शेष दस रात्रि शुभ हैं॥

तासु युग्मासु पुत्रः स्यादयुग्मासु सुता भवेत् ।
षष्ठ्यां सामान्यतः पुत्रोऽष्टम्यां सौभाग्यवान् भवेत्॥
ऐश्वर्यवान् दशम्यां स्याद् द्वादश्यां बलवान् भवेत्१५॥
चतुर्दश्यां च षोडश्यामायुष्मांश्च प्रतापवान् ॥१६॥
सामान्यकन्या पञ्चम्यां सप्तम्यां सुभगा भवेत् ।
नवम्यां श्रेष्ठगुणयुक् पञ्चदश्यां नृपोपमा ॥१७॥

अर्थ—उसमें सम (बेकी) रात्रि में गर्भाधान करने से पुत्र और विषम (एकी) रात्रि में कन्या होती है। छट्ठी रात में सामान्य पुत्र आठवीं रात में भाग्यवान् दसवीं रात में

ऐश्वर्यवान् बारहवीं रात में बलवान् और चौदहवीं तथा सोरहवी रात्रि में गर्भाधान करने से दीर्घायु और प्रतापवान् पुत्र होता है। पांचवी रात में सामान्य कन्या सातवी रात में सौभाग्यवती कन्या नववी रातमे श्रेष्ठ गुणवाली कन्या और पन्द्रहवीं रात में राजकन्या के समान कन्या होती है॥

गर्भाधानंतथा जन्मसंस्कारश्चौलकर्म च।
उपवीतं च कर्तव्यं विप्राणां भूभृतां विशाम् ॥१८॥
बीजगर्भोद्भवाद्दोषात् तेन शुद्धयन्ति तु द्विजाः।
ब्राह्मणाःक्षत्रियाः वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजाः स्मृताः॥१९॥
वेदमन्त्रैर्यतस्तेषां संस्कारादपरा जनिः।
एकश्चतुर्थः शूद्रः स्याद्वर्णाश्चत्वार ईरिताः ॥२०॥

अर्थ—गर्भाधान संस्कार जन्म संस्कार मुंडन और यज्ञोपवीत ये संस्कार ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनो वर्णो को अवश्य करने चाहिये। इस से तीनों वर्ण बीज और गर्भ के पाप से मुक्त होते हैं क्योंकि वेद मंत्रो के संस्कार से उनका दूसरा जन्म होता है। चौथा वर्ण एक शूद्र है ये चार वर्ण कहे॥

गर्भाधानाख्यसंस्कारः स्त्रियः स्यात् प्रथमार्तवे।
जाते तु नालच्छेदात् प्राग् जातकर्म शिशोः स्मृतम्।२१।
एकादशे द्वादशे च जन्मतो वा शुभे दिने।
बालस्य नामकरणं कर्तव्यं शुद्धये द्विजैः॥२२॥

अर्थ—गर्भाधान संस्कार स्त्री के प्रथम रजोदर्शन में होता है। सन्तान होने पर नाल काटने के पहिले लड़के का जात कर्म

गर्भाधानं तथा जन्मसंस्कारश्चौलकर्म च।
उपनीतं च कर्तव्यं विप्राणां भूभृतां विशाम् ॥१८॥
बीज गर्भोद्भवाद्दोषात् तेन शुद्ध्यन्ति तु द्विजाः।
वेदमन्त्रैर्यतस्तेषां संस्कारादपरा जनिः ॥१९॥
ब्राह्मणाःक्षत्रियाः वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजाः स्मृताः।
एकश्चतुर्थः शूद्रः स्याद्वर्णाश्चत्वार ईरिताः ॥२०॥

अर्थ—गर्भाधान संस्कार जन्म संस्कार मुण्डन और यज्ञोपवीत ये संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनो वर्णों को अवश्य करने चाहिये। इससे तीनो वर्ण बीज और गर्भ के पाप से मुक्त होते हैं क्योंकि वेद मन्त्रो के संस्कार से उनका दूसरा जन्म होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण द्विज कहलाते हैं। चौथा वर्ण एक शूद्र है यह चार वर्ण कहे ॥

संस्कार होता है। ग्यारहवें तथा बारसवें अथवा किसी शुभ दिन में बालक का नाम करण तीनों वर्णों ने शुद्धि के लिये करना ॥

नाम्नि विप्रस्य शर्मेति वर्मेति क्षत्रियस्य च ।
योज्यं विशो गुप्त इति दास इत्यपरस्य च ॥२३॥

अर्थ—ब्राह्मण के नाम में शर्मा क्षत्रिय के नाम में वर्मा वैश्य के नाम में गुप्त और शूद्र के नाम में दास लगाना चाहिये ॥

स्त्रीणां नाम सुखोच्चार्यं सुमङ्गल्यं मनोहरम् ।
कर्तव्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादसमन्वितम् ॥२४॥

अर्थ—स्त्री का नाम सुख से कहने योग्य मङ्गलवाचक मनोहर अन्त में दीर्घ स्वर हो ऐसा और अशीर्वाद युक्त होना चाहिये ॥

मासे चतुर्थे बालस्य रवेर्दर्शनहेतवे ।
गृहाद्बहिर्निष्क्रमणं षष्ठेऽन्नप्राशनं स्मृतम् ॥२५॥

अर्थ—चौथे महीने में बालक को सूर्य का दर्शन कराने के लिये घर से बाहर निकालना यह निष्क्रमण संस्कार है छट्ठे महीने में अन्न प्राशन कराये ॥

उदयं प्रथमं मन्त्रमुच्चार्योदुत्यमित्यपि ।
ततश्च चित्रंदेवानां तुर्यं तच्चक्षुरित्यपि ॥२६॥
मन्त्रैश्चतुर्भिः सूर्यस्य दर्शनं कारयेच्छिशोः ।
अथद्रुमदीमत्स्यान्नप्राशनमाचरेत् ॥२७॥

ज्यायुपञ्जमदग्ने श्चेत्युक्त्वा मन्त्रं पठेत् पुनः ।
शिवोनामासीतिमन्त्रं चूडाकर्म समाचरेत् ॥२८॥

अर्थ—पहिला तच्चक्षुं मंत्र, दूसरा उदुत्यं, फिर चित्रं-देवानां,'चौथा तच्चक्षुः मंत्र पढ़ के बालक को सूर्य भगवान् का दर्शन करावे। और "अवरुद्रमदोमहि" मंत्र से बालक को अन्नप्राशन करावे (अन्न चटावन)। पहिले 'ज्यायुषंजमदग्ने': इस मंत्रको पढ़ कर फिर 'शिवोनामासि' इस मंत्र को पढ़ै पीछे बालक का मुण्डन करे॥

चूडाकर्म शिशोर्धर्मवृध्यर्थं तु द्विजातिभिः ।
प्रथमे वा तृतीयेऽब्दे कर्तव्यं वेदशिक्षया ॥२९॥

अर्थ—तीन वर्ण अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को चाहिये कि धर्म की वृद्धि के लिये बालक का चूड़ा कर्म (मुण्डन) संस्कार पहिले वा तीसरे वर्ष में वेद की आज्ञा से करना॥

विप्रस्याब्देऽष्टमे गर्भादुपवीतं विधीयते ।
राज्ञ एकादशे गर्भाद् द्वादशे गर्भतो विशः ॥३०॥
क्रमाद्वा पञ्चमे षष्ठेऽष्टमे तेजोविवृद्धये ।
उपनीतो द्विजशिशुर्गायन्त्रीमन्त्रमभ्यसेत् ॥३१॥
अग्निकार्यं कुलाचारं सन्ध्योपास्तिं समाचरेत् ।
गर्भाधानं जातकर्म चूडा मौञ्जीनिबन्धनम् ॥३२॥
संस्कारा इति तत्रोचुरधिकारं द्विजन्मनाम् ।
शूद्रस्य सर्वे संस्कारा वेदप्रणववर्जिताः ॥३३॥

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशाम् ॥३४॥

अर्थ—गर्भ से आठवे वर्ष में ब्राह्मण का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का और गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य का यज्ञोपवीत करना चाहिये। अथवा अपना अपना तेज बढ़ने के लिये पांचवें वर्ष में ब्राह्मण का छट्ठे वर्ष में क्षत्रिय का और आठवें वर्ष में वैश्य का यज्ञोपवीत (जनेऊ) करना। यज्ञोपवीत किया हुआ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का बालक गायत्री मंत्र का जप करे अग्निकार्य (होम) करे, अपने कुल का आचार और संध्या करे। गर्भाधान जातकर्म मुण्डन और यज्ञोपवीत ये संस्कार हैं इनमें तीन वर्ण अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को अधिकार कहा है और शूद्र के सभी संस्कार वेद और ॐ कार करके रहित हैं (मना है)। सोरह वर्ष पर्यन्त ब्राह्मण का गायत्री मंत्र (यज्ञोपवीत) का समय नहीं जाता। क्षत्रिय का बाइस वर्ष तक औ वैश्य का चैाबीस वर्ष तक समय नहीं जाता अर्थात् ब्राह्मण का सोरह वर्ष तक क्षत्रिय का बाइस वर्ष तक और वैश्य का चैाबीस वर्ष तक भी यज्ञोपवीत संस्कार का गैाण काल है।

अत ऊर्ध्वं त्रयोप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥३५॥

अर्थ—इसके उपरान्त ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये तीनों वर्ण अपने अपने काल में (समय पर) संस्कार न किये गए हों सो वे गायत्री मंत्र से पतित होकर व्रात्य कहलाते हैं और वे

श्रेष्ठ पुरुषों में निन्दा को प्राप्त होते हैं॥

कार्पस क्षौम गोवाल शण वल्वतृणादिकम् ।
यथा सम्भवतोधार्य मुपवीतं द्विजातिभिः ॥३६॥

अर्थ—कपास का सूत, रेशम, गोवाल अर्थात् गौ की की पूछ के बाल, शण, ऊन और वल्वतृण (मूंज) इत्यादि जो समय पर मिल जावे उसीं का ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य यज्ञोपवीत बना कर पहिने अर्थात् जहां तक कपास का सूत मिल सके वहां तक अन्य (दूसरा) का न पहिने। किन्तु कपास के सूत के न मिलने की दशा में रेशम आदि का पहिने॥

सदोपवीतिनाभव्यं सदावद्धशिखेन च ।
विशिखोव्युपवीतश्चयत्करोतिनतत्कृतम् ॥३७॥

अर्थ—सदा जनेऊ पहिने और शिखा में गांठ लगावें। जिसके जनेऊ नहीं हो, शिखा न हो वह जो कर्म (पूजा, पाठ, भजन) करता है वह निष्फल है॥

शुचौदेशे शुचिः सूत्रं सहिताङ्गुलि मूलके ।
आवर्त्यपराणवत्यातत्त्रिगुणी कृत्ययत्नतः ॥३८॥
अवूलिङ्ग कैश्व मन्त्रैस्तत्प्रक्षाल्योर्ध्ववृतंत्रिवृत् ।
अप्रदक्षिणमावृत्य सावित्र्यात्रिगुणी कृतम् ॥३९॥
ततः प्रदक्षिणा वर्तं समं स्यान्न वसूत्रकम् ।
त्रिरावेष्टयदृढंवद्ध्वा ब्रह्मविष्ण्वोश्वरान्नमे ॥४०॥

अर्थ—शरीर से शुद्ध हुआ मनुष्य पवित्र स्थान में अपने

चारो अङ्गुलियों को इकट्ठी करके उनके मूल (जड़) में सूत को तिगुना कर विचार के साथ छानवे वार लपेट कर अप्शब्द-जिन में आता है ऐसा (आपो हिष्ठामयो भुव स्तान ऊर्जे दधातन) इत्यादि मंत्रों के साथ जलसे धोकर उस तीनलर के सूत को प्रथम ऊपर को ऐंठ कर सावित्री (गायत्री) मंत्र से पुनः उसको तिगुना करे। पीछे उन तीनों लरों को ऐंठ कर एकता सम नवसूत्र का करे फिर उसकी तीन लरों में एक दृढ़ गाँठ लगा कर उत्पत्तिस्थितिलय कर्त्ता ईश्वर ओ३म् को नमस्कार करे॥

पृष्ठदेशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम् ।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं नचोच्छ्रितम् ॥४१॥

अर्थ—पीछे पीठ पर और आगे नाभी पर होकर कटि भाग तक पहुंच जावे ऐसा यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये और अतिलम्बा वा अति छोटा न हो॥

उपवीतं वटोरेकं द्वे तथेतरयोः स्मृते ।
यज्ञोपवीतमिति वा व्याहृत्या वाऽपि धारयेत् ॥४२॥

अर्थ—वटु (ब्रह्मचारी) को एक जनेऊ पहिनना चाहिये तथा गृहस्थ और वानप्रस्थ को दो जनेऊ धारण करना चाहिये जब नवीन जनेऊ धारण करे तो यज्ञोपवीतंपरमं पवित्रं या व्याहृति (ओं भूर्भुवः स्वः) गायत्री मंत्र को पढ़कर पहिने॥

यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि ।
तृतीयमुत्तरीयार्थं वस्त्रालाभे तदिष्यते ॥४३॥

अर्थ—श्रुति स्मृति (वेद शास्त्र) में लिखे हुए कामों के करने में दो जनेऊ पहिने अँगोछा न हो तो उसके बदले में एक जनेऊ और पहिने अर्थात् तीन जनेऊ पहिनना चाहिये॥

विप्रक्षत्रियवैश्येषु त्रिष्वेकविधमेवच ।
यज्ञोपवीतं धार्यं स्याच्छूद्राणां नैव तद्भवेत् ॥४४॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णों को जनेऊ एक ही प्रकार का धारण करना चाहिये और शूद्र को जनेऊ नहीं है॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या नमस्कुर्युः परस्परम् ।
त्रीनेतान् सद्द्विजान् शूद्रः साष्टाङ्गं प्रणमेत्सदा॥४५॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य आपस में नमस्कार करें। शूद्र इन तीन द्विजों को सर्वदा साष्टाङ्ग नमस्कार करे॥

शिशूपनयनं येतु न कुर्वन्ति द्विजातयः ।
सोपाध्यायास्तु ते सर्वे ध्रुवं निरयगामिनः ॥४६॥

अर्थ—जो तीनों वर्ण ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, बालक का यज्ञोपवीत (जनेऊ) नहीं करते वेलोग पुरोहित के साथ निश्चय से नरक में जाते हैं। इसलिये पुरोहित को चाहिये कि अपने जजमान को उपदेश देवे अर्थात् यज्ञोपवीत (जनेऊ) संस्कार करावे॥

पुत्रोपनीतिसंस्कारं श्रुतेरावश्यकं चरेत् ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रस्तु न च धारयेत् ।४७।

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के पुत्र का यज्ञोपवीत (जनेऊ) संस्कार अवश्य करना चाहिये वेद मंत्र से और शूद्र को जनेऊ नहीं धारण करना चाहिये ॥

यज्ञोपवीतसंस्कारो यस्य जातो द्विजन्मनः ।
तस्य वेदादिमंत्राश्च दातव्या विदुषा सदा ॥४८॥

अर्थ—पण्डित लोग को चाहिये कि जिस ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का यज्ञोपवीत (जनेऊ) संस्कार हुआ हो उसको वेद आदि मंत्र सदा बताना चाहिये ॥

यज्ञोपवीतसंस्कारं विना ये हि द्विजातयः ।
वेदमन्त्रानविरतं जपन्त्यकृतबुद्धयः ॥४९॥
तेषां तु स जपो व्यर्थो विपरीतफलो भवेत् ।
असंस्कृतेन नो जप्या अतो मन्त्रा द्विजन्मना ॥५०॥

अर्थ—जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य यज्ञोपवीत संस्कार किये बिना मन्द बुद्धि से सदा मंत्र आदि जपते हैं उनका जप करना वृथा है फल के बदले हानि होती है इसलिये द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को संस्कार किये बिना वेद आदि मंत्र (कोई मंत्र) नहीं जप करना चाहिये ॥

षट् कल्पितानि विप्राणां कर्माणि यजियाजने ।
पठनं पाठनं दानं विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥५१॥

अर्थ—ब्राह्मणों के लिये ६ कर्म कल्पित हैं। यज्ञ करना कराना पढ़ना पढ़ाना दान देना और शुद्ध मनुष्य से प्रतिग्रह लेना ॥

प्रजानां पालनं दानं यजनं पठनं श्रुतेः ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च पञ्च कर्माणि भूभृताम् ॥५२॥

अर्थ—प्रजाओं का रक्षा करना दान देना यज्ञ करना वेद पढ़ना और विषयों में आसक्त नहीं होना ये पांच कर्म क्षत्रियों के हैं ॥

पशुपालनं तु यजनं दानं वाणिज्यकं श्रुतेः पठनम्।
कृषिरपि च वार्धुषित्वं कर्माण्येतानि सद्विशां सप्त॥५३॥

अर्थ—पशुओं को पालना, यज्ञ करना, दान देना, बनिज करना, वेद पढ़ना, खेती करना और ब्याज की वृत्ति करना ये सात कर्म वैश्य के हैं ॥

शूद्रस्य चैकमेवोक्तं श्रुतौ कर्म स्वयंभुवा ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां सेवनं शुद्धचेतसा ॥५४॥

अर्थ—शूद्र के लिये वेद में एकही कर्म ब्रह्माजी ने कहा है कि शुद्ध चित्त से ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इनकी सेवा करना ॥

संक्षेपत इत्युक्तो गृहस्थधर्मः स्वयंभुवा प्रोक्तः ।
ब्राह्मणराजन्यविशां शूद्राणां धर्म संसिद्ध्यै ॥५५॥

अर्थ—यह गृहस्थ धर्म ब्रह्माजी का कहा हुआ संक्षेप से कहा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों को धर्म सिद्धि होने के लिये ॥

ॐ इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां एकोनत्रिंशः सर्गः ॐ ॥ २९ ॥

परशुरामउवाच —

राजन् पुरा कलियुगे प्राप्स्यन्ते जन्म ये नराः ।
श्रोतुमिच्छामि तद्वृत्तं तद्ब्रूहि कृपया मम ॥१॥

अर्थ—परशुरामजी बोले कि हे जनक राजा ! आगे कलियुग में जो मनुष्य जनम पावेंगे उनका वृत्तान्त सुनना चाहता हूं सो आप कृपा करके मुझे कहो ॥

जनक उवाच—

प्राप्ते कलियुगे पापे लुप्येरन् धर्मसेतवः ।
पाखण्डिनः स्वस्वमतैः कल्पयित्वा बहून् पथः ॥२॥
वेदान् शास्त्राणि निन्देयुः स्युर्धर्मभ्रंशकारकाः ।
बुद्धिभ्रंशात् परित्यज्य भगवन्तं सदाशिवम् ॥३॥
भूतप्रेतपिशाचादीन् यजेयुः कार्यसिद्धये ।
त्यजेयुर्धर्मकर्माणि नित्यं लोभवशं गताः ॥४॥

अर्थ—जनकजी बोले कि पापी कलियुग आने से धर्म की मर्यादा लुप्त होजायगी पाखण्डी लोग अपने अपने मन से अनेक पन्थ कल्पना करके वेद और शास्त्र की निन्दा करेंगे । धर्म को बिगाड़ देंगे । बुद्धि के बिगड़ने से भगवान् शिवजी को छोड़ के अपना कार्य सिद्ध होने के लिये भूत प्रेत पिशाच आदि को पूजेंगे । नित्य लोभ के वश होकर धर्म कर्म छोड़ देंगे ॥

वान प्रस्थोऽथ गार्हस्थ्यं संन्यासो ब्रह्मचर्यकम् ।
चतुर्णाश्रमामाणां स्या देषां लोपः कलौ युगे ॥५॥

अर्थ—ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ सन्यास इन चारों आश्रमों का कलियुग में लोप होगा ॥

द्विजाः सन्त्यज्य गायत्रीमन्यमन्त्रजपे रताः।
नयन्तोऽहान्यपार्थानि पतेयुर्नरके ध्रुवम् ॥६॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्ण गायत्री मंत्र को छोड़ के दूसरे मंत्रों को जपने लगेंगे। इससे दिनों को वृथा विता के निश्चय से नरक में पड़ेंगे ॥

नृभिर्नार्योविरुद्धाः स्युः पाखण्डाध्वकृतादराः।
त्यजेयुर्वेदशास्त्राणां मर्यादा दुष्टभूभृतः ॥७॥

अर्थ—पुरुषों से स्त्रियां विरुद्ध होंगी दुष्ट राजा लोग पाखण्ड के पन्थ का आदर करके वेद शास्त्र की मर्यादा को छोड़ देंगे ॥

पण्डिता इति विख्याता वाचालाः स्युः कलौ युगे।
पाखण्डवार्ताचतुराः सन्तः ख्याता जटाधराः॥८॥
परद्रव्यापहर्तारो विख्याता श्चतुरा इति।
आचारीति च पाखण्डं कर्म विस्तीर्य दर्शयन् ॥९॥
गुणी ख्यातः स यो मिथ्योपहासवचने रतः।
वेद शास्त्रे त्यजन् दुर्वाङ् महात्मा मांसमद्यभुक् ।१०।
बिभ्रन् भयंकरंवेषं नृकपालधरश्च यः।
भक्षन्नभक्ष्यं च कलौ सिद्धो योगीति चोच्यते ॥११॥

काषायवस्त्रधृग्यस्य महत्यो नखरा जटाः ।
स साधुः स तपस्वी स्यात् शूलधृग् भस्मधृग्वपुः॥१२॥

अर्थ—कलियुग में बहुत बोलनेवाला पण्डित कहलावेगा। पाखण्ड की बातों में चतुर जटाधारी सन्त कहलावेगा, दूसरे के द्रव्य को हरने वाले चतुर और (छल से) पाखण्ड का कर्म बढ़ा कर दिखानेवाले आचारी कहलावेंगे। झूठ हँसी की बातें बनानेवाला गुणी और वेद शास्त्र को त्याग के मद्य मांस खाकर बुरा बकने वाले महात्मा कहलावेंगे, भयङ्कर भेष धारण करके मनुष्य की खोपड़ी लटकाये अभक्ष खानेवाला कलियुग में सिद्ध या योगी कहलावेंगे। गेरुवा वस्त्र पहिने बड़े बड़े नख और जटा बढ़ाये त्रिशूल धारण किये भभूत शरीर में रमाये साधू और तपस्वी कहलावेंगे॥

यथा कपिं वशीकृत्य नटो नर्तयते पथि ।
तथा नरान् नर्तयेयुर्वशीकृत्य स्त्रियो गृहे ॥१३॥

अर्थ—जैसे नट लोग बन्दर को वश में करके मार्ग में नचाते हैं वैसे स्त्रियां पुरुष को वश में करके घर में नचायेंगी॥

द्विजकर्मकराः शूद्राः शूद्रसेवाकरा द्विजाः ।
कर्महीना मांसमद्यपलाण्डुलशुनाशिनः ॥१४॥

अर्थ—शूद्र लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों का

कर्म करेंगे और वे तीनों वर्ण शूद्र की सेवा करेंगे कर्म हीन होंगे और मद्य, मांस, प्याज़, लहसुन भोजन करेंगे ॥

ते कामक्रोधलोभानां वशीभूता नरा मिथः ।
विरुन्ध्यु ब्राह्मणान् साधून गुरुवर्गान् कलौ युगे ।१५।

अर्थ—वे मनुष्य काम क्रोध और लोभ के वश में होकर आपस में तथा ब्राह्मण साधु गुरु जन आदियों से विरोध करेंगे ॥

स्त्रियस्त्यक्त्वा पतिप्रेम रताः स्युः परपूरुषे ।
विधवा व्यभिचारिण्यः स्युर्नित्यं नूत्नमण्डनाः ॥१६॥

अर्थ—स्त्री लोग पति से प्रेम छोड़ के पराये पुरुष में आसक्त होंगी। विधवा स्त्रियां नित्य नये नये शृङ्गार करके व्यभिचार करेंगी ॥

ब्राह्मणा स्तं स्तुवन्ति स्म द्रव्यप्राप्तिर्यतो भवेत् ।
यतो द्रव्यं न लभ्येत निन्देयुस्तं नरा भृशम् ॥१७॥

अर्थ—ब्राह्मण लोग जिससे द्रव्य मिले उसकी स्तुति करेंगे। जिससे द्रव्य न मिले उसकी बहुत निन्दा करेंगे ॥

नरास्तु मिथ्यावेदान्तवक्तारो ब्रह्मवादिनः ।
बालस्त्रीगुरुविप्रान्ये घातयेयुर्धनाशया ॥१८॥

अर्थ—मनुष्य झूठा वेदान्ती ब्रह्मज्ञानी बनेंगे और धन की आशा से बालक स्त्री गुरु और ब्राह्मणों का वध करेंगे ॥

प्रणमेयुर्द्विजाः शूद्रं वेदशास्त्रबहिष्कृताः ।
विक्रीणीयुर्दुहितरं जामातृधनलालसाः ॥१९॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्ण शूद्र को प्रणाम करेंगे वेद और शास्त्र से भ्रष्ट हो जांयगे और मनुष्य दमाद के धन की लालच से कन्या को बेच देंगे ॥

पापाधिक्येनान्नलोपान्निष्पत्तिरपि नो भुवि ।
वर्षेयुरल्पं जलदा गोदुग्धं च ह्रसिष्यति ॥२०॥

अर्थ—पाप के अधिक होने से अन्न लुप्त हो जायगा भूमि में अन्न नहीं उपजेगा बादल थोड़ा बरसेंगे गौ का दूध घट जायगा ॥

ये वेदशास्त्रमर्यादापालकाः पण्डिताश्च तान् ।
निन्दंति स्म हसन्ति स्म नरा मात्सर्यदूषिताः ॥२१॥

अर्थ—जो वेद शास्त्र की मर्यादा को पालने वाला पण्डित होंगे डाह करने के दोष से मनुष्य उनकी निन्दा करेंगे और हसेंगे ॥

दूषयित्वा वेदमन्त्रानन्यमन्त्रजपे रताः ।
नरा अपार्थदिवसान् संनयेयुः कलौ युगे ॥२२॥

अर्थ—मनुष्य वेद मन्त्रों को दोष लगा कर दूसरे मन्त्र जपने लगेंगे । कलियुग में मनुष्य वृथा दिन गवांयेंगे ।

रजकाः कुम्भकाराश्च नीचास्तैलिकगौण्डिकाः ।
चर्मकारा: लोकेऽत्र स्युः शिरः समुन्नत्य योगिनः २३॥

अर्थ—धोबी, कुंभार, तेली, कलवार, चमार ये सब नीच स्त्री के लिये सिर मुंडा के योगी बन जायँगे ॥

एते द्विजैः स्वपदपूजनतोऽतिहृष्टाः
पुत्राः प्रसूं च पितरं परिभर्त्सयेयुः ।
स्त्रीं सेवते स्म पतिरत्रपमेवमादि
भूयस्त्वमीदृशि कलौ कथमुद्धृतिः स्यात् २४॥

अर्थ—ये मुंडे जोगी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनो वर्णों से अपने पग पुजाने में बड़े प्रसन्न होंगे पुत्र अपने मा बाप को गाली देंगे पति निर्लज्ज होकर स्त्री की सेवा करेंगे इत्यादि बहुत पाप होगा । हे परशुरामजी ऐसे कलियुग में उद्धार कैसे होगा ॥

ॐ इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां त्रिंशः सर्गः ॐ ॥ ३० ॥



परशुराम उवाच—

युगे कलौ घोरतमे जनितानां नृणां नृप ।
निस्तारः स्यात् कथं ब्रूहि कृपां कृत्वा ममोपरि ॥१॥

अर्थ—परशुरामजी बोले कि हे राजन् ! अति घोर कलियुग में उत्पन्न मनुष्यों का निस्तार कैसे होगा सो मुझपर कृपा करके आप कहिये ॥

जनक उवाच—

निस्तारार्थं कलियुगे नृणां परशुराम यत् ।
पृच्छस्यस्मिन्नसाध्येऽपि तदुपायस्तु कथ्यते ॥२॥

अर्थ—राजा जनक बोले कि हे परशुराम ! कलियुग में मनुष्य के निस्तार के लिये जो पूछते हो यह असाध्य रहते भी उसका उत्तम उपाय कहता हूं ॥

यस्मिन् कृते नृणां लभ्यं परं पदमसंशयम् ।
सावधानेन मनसा श्रूयतां तदिहाधुना ॥३॥

अर्थ—जिसके करने से मनुष्यों को निःसन्देह परमपद प्राप्त होता है यह सावधान चित्त से अब यहां सुनो ॥

एकदा शिवया शम्भू रम्ये कैलासपर्वते ।
महर्षीन् बोधयन्नासीद्वृत्तास्तत्र कलेः कथाः ॥४॥

अर्थ—एक समय शिव भगवान् पार्वतीजी के साथ रमणीय कैलास पर्वत पर महर्षियों को समझा रहे थे वहां कलियुग की कथा चली ॥

कलौ युगे नरा घोरपापिनः स्युश्च लोभिनः ।
कामक्रोधवशीभूय मद्यपानरताः परे ॥५॥

अर्थ—कलियुग में मनुष्य बड़े पापी और लोभी होंगे और लोग काम और क्रोध के वश में होकर मदिरा पीवेंगे॥

परनिन्दारता अन्यद्रव्यग्रहणलिप्सवः ।
परे परस्त्रियो वीक्ष्य मोहिता जीवहिंसकाः ॥६॥

अर्थ—और परनिन्दा में प्रीति युक्त होंगे तथा परद्रव्य के हरण की इच्छा करेंगे और बिरानी स्त्रियों को देख कर मोहित होंगे तथा जीवों की हिंसा करेंगे॥

विस्मृत्य सच्चिदानन्दं भूतप्रेतार्चने रताः ।
स्त्रीदेवा नास्तिकाश्चैव द्रुह्येयुः पितरौ परे ॥७॥

अर्थ—सच्चिदानन्दरूप को भूल कर भूत प्रेतों का पूजन करेंगे। स्त्रियों में देवता कीसी प्रीति करेंगे नास्तिक हो जायंगे और माता पिता से द्रोह करेंगे॥

कामदेववशीभूय पापबाहुल्यकारकाः ।
स्वधर्मं पतिशुश्रूषारूपं संत्यज्य योषितः ॥८॥
शश्वत् प्रीतिं करिष्यन्ति परेषु पुरुषेषु च ।
स्वीयेन भर्त्रा श्वश्र्वा च द्रुह्येयुः श्वशुरेण च ॥९॥

अर्थ—कामदेव के वशीभूत होकर बहुत पाप करेंगे और स्त्रियें पतिसेवारूप स्वधर्म को त्याग कर पर पुरुषों में प्रीति करेंगी और अपने भर्ता से सास से और ससुर से द्रोह करेंगी॥

स्वधर्मत्यागिनो विप्रा वर्णधर्मांविचारिणः ।
शूद्रान् वेदं पाठयेयुर्द्रव्यग्रहणालिप्सवः ॥१०॥

अर्थ—ब्राह्मण लोग अपने धर्म को छोड़ देंगे वर्ण और धर्म का विचार नहीं करेंगे और द्रव्य लेने की इच्छा से शूद्रों को वेद पढ़ावेंगे ॥

शूद्राश्च द्विजशुश्रूषां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ।
ब्राह्मणानुपदेक्ष्यन्ति ब्राह्मणाचारतत्पराः ॥११॥

अर्थ—शूद्र लोग भी तीन वर्णों की सेवा रूप अपने सनातन धर्म को छोड़ कर ब्राह्मणों के आचार में तत्पर होके ब्राह्मणों को उपदेश करेंगे ॥

ये वर्णसङ्करे नीचाश्चक्रिणः शौण्डिकास्तथा ।
विद्धर्मं उपदेक्ष्यन्ति द्विजानुच्चासनास्थिताः ॥१२॥

अर्थ—कोहार और कलवार जो वर्ण सङ्कर में नीच हैं वे ऊंचे आसन पर बैठ कर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों को ज्ञान और धर्म का उपदेश करेंगे ॥

श्रुतिश्रुत्यधिकारोऽपि शास्त्रे येषामलेखि न ।
करिष्यन्त्येवमेनांसि ते शूद्राः कलिदोषतः ॥१३॥

अर्थ—जिन शूद्रों को वेद के सुनने का अधिकार भी शास्त्रों में नहीं लिखा है वे कलियुग के दोष से ऐसे ऐसे पाप करेंगे ॥

सहोमया शिववचः श्रुत्वा सर्वे महर्षयः ।
क्षणमासन्नुदासीना वीक्ष्यैवं भगवांच्छिवः १४॥
तानब्रवीदुदास्वे किं पृच्छयतां चेत् पिपृच्छिपा ।
दास्ये तदुत्तरमिति श्रुत्वैवं भगवद्वचः ॥१५॥
सर्वेमहर्षयस्तूष्णीं भूत्वाऽपश्यन्नुमामुखम् ।
महर्षीणां मनोवृत्तं संविज्ञाय शिवा तदा ॥१६॥
उत्थायेशं नमस्कृत्य भगवन्तं वचोऽब्रवीत् ।
भगवन् ब्रूहि कृपया नृनिस्तारः कलौ कथम् ॥१७॥

अर्थ—भगवान् शिवजी का वचन सुन के पार्वती सहित सब महर्षि लोग क्षण भर उदास हो गए ऐसा देख के शिवजी बोले कि आप लोग उदास क्यों हो गए जोकुछ पूछने की इच्छा हो पूछो मैं उसका उत्तर दूंगा। ऐसा शिव भगवान् का वचन सुनके सब महर्षि लोग चुप हो कर पार्वती के मुख के ओर देखने लगे। तब महर्षि लोगों के मन का वृत्तान्त जान कर पार्वतीजी उठ कर शिवजी को नमस्कार करके बोलीं कि हे भगवान् आप कृपा करके कहें कि कलियुग में मनुष्यों का निस्तार कैसे होगा ॥

श्रुत्वैवं भगवानाह कोऽर्थः प्रश्नेन वोऽमुना ।
कालः कल्यागमेऽद्य इदानीमवशिष्यते ॥१८॥
त्रेतायुगाद्यचरणः सांप्रतं परिवर्तते ।
ततोऽब्रवीदुमा देवी यदा भगवतोदितम् ॥१९॥

कलौ युगे नृणां वृत्तं तदारभ्य महर्षयः।
परार्थनिष्ठा ब्रह्मैकतानाः कोमलचेतसः ॥२०॥

अद्यावधि च यैर्नैनः कृतं किंचिदपि क्वचित् ।
श्रुत्वा कलियुगे नृणां वृत्तं चित्तउदासते ॥२१॥

अर्थ—ऐसा सुनके शिवभगवान् बोले कि आपलोगों को इस प्रश्न से क्या प्रयोजन है क्योंकि अभी कलियुग आने में बहुत काल (शेष है) बाकी है। अभी त्रेतायुग का पहिला चरण चलता है। इसके उपरान्त पार्वतीजी बोलीं कि जब आपने कलियुग के मनुष्यों का वृत्तान्त कहा तब से महर्षि लोग जिनकी पर स्वारथ में निष्ठा है एक ब्रह्म के ध्यान में मग्न हैं जिन का चित्त कोमल है और जिन्होंने आज तक कहीं कुछ भी पाप नहीं किया है वे कलियुग के मनुष्यों का वृत्तान्त सुन के चित्त में उदास हैं॥

तद् ब्रूह्युद्धरणोपायं कृपया कलिजन्मनाम् ।
नृणां येन महर्षीणां यायाच्चितः प्रसन्नताम् ॥२२॥

हठं विज्ञाय पार्वत्या भगवानब्रवीच्छिवः ।
देवि तत् कथयामि स्याद्येनोद्धारः कलौ नृणाम् २३

अर्थ—जो कलियुग के मनुष्यों के उद्धार का उपाय आप कृपा कर कहैं जिससे महर्षियों का चित्त प्रसन्न होय। भगवान् शिवजी पार्वतीजी का हठ जान कर बोले कि हे देवी जिससे कलियुग के मनुष्यों का उद्धार हो वह कहता हूं॥

ना य ओमित्युपासीत स जीवन्मुक्त उच्यते ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः परं पदमवाप्नुयात् ॥२४॥

कलौ युगे तु प्रणवादृते नो
पार्वत्युपायोऽस्त्यपरो वरिष्ठः ।
तस्मादुपासीत नरः सदोमि-
त्यशेषपापापहतिं य इच्छेत् ॥२५॥

अर्थ—जो मनुष्य ॐकारकी उपासना करे वह जीवन्मुक्त कहाता है। वह सब पापों से छूट कर परम पद को प्राप्त होता है। हे पार्वति कलियुग में प्रणव (ॐ) को छोड़ के दूसरा उपाय श्रेष्ठ नहीं है इसलिये जो मनुष्य सब पापों का नाश होना चाहे वह सदा ओंकार (ॐ) की उपासना करे॥

जनक उवाच—

ओमित्यतः परो मन्त्रः पर्शुराम न चोत्तमः ।
ईशनामसु सर्वेषु प्रोच्यते श्रेष्ठ ओमिति ॥२६॥
ओमिति ज्ञातुमुचितोऽस्यैवोपासनया नरः ।
प्राप्ता महर्षितां चातिपापिनोऽपि परं पदम् ॥२७॥

अर्थ—हे परशुरामजी ॐ इससे उत्तम दूसरा मंत्र नहीं है। ईश्वर के सब नामों में ॐ यह श्रेष्ठ कहाता है, ॐ यह जानने योग्य है इसी के उपासना से मनुष्य महर्षि पदवी को प्राप्त हुए हैं और बड़े पापी लोग भी परमपद को प्राप्त होगये हैं॥

सदैवोमित्युपासेऽहं पर्शुराम न चापरम् ।
कलावोमित्युपासीत तन्मुक्तौ नास्ति संशयः ॥२८॥

अर्थ—हे परशुरामजी ! मैं सदा ही ॐकार की उपासना करता हूं दूसरे मन्त्र की उपासना नहीं करता। जो कलियुग में ॐकार की उपासना करे उसकी मुक्ति होने में कोई सन्देह नहीं है ॥

प्रणवोपासना सेयं मया परशुराम ते।
कथितात्युत्तमा नान्यो मार्गोतः पर उत्तमः ॥२९॥

अर्थ—हे परशुरामजी यह प्रणव (ॐ) की उपासना मैंने तुमको पहिले अति उत्तम रीति से कही है। इस को छोड़ कर दूसरा उत्तम मार्ग नहीं है ॥

वेदोदितोऽयं खलु मार्ग एनं
मनुः स्वतन्त्रे रचयांबभूव ।
उपासनां तु प्रणवस्य चाग्र्या
दद्यान्न चोराय न लम्पटाय ॥३०॥
अश्रद्दधानाय च वेदशास्त्र-
वार्ता सुराविक्रयपानकर्त्रे ।
म्लेच्छाय विद्वानमुना पथैव
कलौ लभेत् तत् परमं पदं हि॥३१॥

अर्थ—यह मार्ग वेद में कहा हुआ है इसको मनुजी ने अपने धर्मशास्त्र ग्रंथों में रचा है इस श्रेष्ठ प्रणव की उपासना को

चोर को या लम्पट को विद्वान् उपदेश न करें। जो वेद शास्त्र के वचनों पर विश्वास नहीं रखते उनको न कहे। जो मदिरा को बेचते हैं या पीते हैं या जो म्लेच्छ हैं उनको भी न कहे। कलियुग में केवल इसी मार्ग से विद्वान् मनुष्य उस परमपद को पा सकता है ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनकपरशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृतभाषाटीकायां एकत्रिंशः सर्गः ॥२६॥



परशुराम उवाच—

गृहस्थधर्मास्त्वत्प्रोक्ताः श्रुता राजन्नशेषतः।
स्त्रीणां धर्मानशेषेण कृपया वद मेऽधुना ॥१॥

अर्थ—परशुरामजी बोले कि हे राजन्! आपसे कहे हुए गृहस्थधर्म सब मैंने सुने अब आप कृपा करके स्त्रियों के धर्म संपूर्ण मुझे कहिये ॥

जनक उवाच—

इदानीं तव नारीणां धर्मान् वक्ष्यामि सर्वशः।
सावधानेन मनसा पर्शुराम शृणुष्व तान् ॥२॥

अर्थ—जनकजी बोले कि हे परशुरामजी अब तुम को स्त्रियों के धर्म सब कहता हूं सावधान चित्त होकर सुनो ॥

पुरा स्त्रीणां न का प्यासीन्मर्यादासां यदृच्छया ।
विहारेण प्रवृत्ते व्यभिचारोऽप्यदूषितः ॥३॥
आसीत्पुरैवं नेदानीं धर्मपद्याधुनापि च ।
पशुपक्षिषु सैवास्ति कुरुखण्डे तथोत्तरे ॥४॥

अर्थ—पहिले स्त्रियों के लिये कोई मर्यादा नहीं थी। इनके स्वेच्छाविहारी होने से व्यभिचार प्रवृत्त हुआ। उसका दोष भी नहीं था। ऐसा पहिले धर्म्म मार्ग था अब नहीं है। अभी भी पशु पक्षियों में तथा उत्तर कुरुखण्ड में वही धर्म-मार्ग है॥

तं धर्ममेवानुसृतास्तत्राद्यापि महर्षयः ।
स्वल्पः कालो व्यतीयाय निष्क्रान्ता सात्र भारतात्।५।

अर्थ—उत्तर कुरुखण्ड में महर्षि लोग आज तक उसी धर्ममार्ग पर चलते हैं परन्तु थोड़े काल से यह धर्ममार्ग भारत खण्ड से उठ गया॥

निशामय च तद्धेतुमासीदुद्दालकः पुरा ।
महर्षिस्तस्य तनयः श्वेतकेतुरिति स्मृतः ॥६॥

अर्थ—अब उसका कारण भी सुनो। पहिले उद्दालक नाम एक महर्षि था। उसका पुत्र एक श्वेतकेतु नामक था॥

तन्मातरमथान्येद्युः करे कृत्वान्यभूसुरः ।
मैथुनाय बलान्निन्ये तद्दृष्ट्वातीव कोपितः ॥७॥

श्वेतकेतुः सुतं दृष्ट्वा क्रुद्धमुद्दालकोऽब्रवीत् ।
मा क्रुध्य पुत्र धर्मोऽयं वसुधायां सनातनः ॥८॥
चतुर्वर्णस्त्रियः स्वैरचारिण्यः सन्ति गौरिव ।
अयुक्तोऽयं धर्म इति विज्ञाय श्वेतकेतुना ॥९॥
मर्यादेवं निबद्धासीत् स्त्री याद्यप्रभृति क्वचित् ।
व्यभिचारं प्रकुर्याच्चेद् भ्रूणहत्यां लभेत सा ॥१०॥
कुर्यात् परस्त्रीसंभोगं पुरुषोऽपि बलाद्यदि ।
लिप्तः स्यान्मम वाक्येन सचापि भ्रूणहत्यया ॥११॥

अर्थ—फिर और किसी दिन उस श्वेतकेतु की माता को दूसरा ब्राह्मण हाथ पकड़ के विषय करने के लिये बल से ले चला यह देख के श्वेतकेतु को बड़ा क्रोध हुआ। पुत्र को क्रोधित देख कर उद्दालक ऋषि बोले कि हे पुत्र! क्रोध मत कर यह पृथ्वी पर सनातन धर्म है कि चारों वर्णों की स्त्री गौ के समान स्वेच्छाचारी हैं। यह धर्म अयोग्य है ऐसा श्वेतकेतु ने जान कर ऐसी मर्यादा बांधी। जो स्त्री आज से कहीं व्यभिचार करे तो (भ्रूण) गर्भ हत्यारूपी पाप को प्राप्त होगी। और पुरुष भी बल से जो पराये स्त्री से विषय करे तो उसे भी मेरे वाक्य से भ्रूणहत्या लगेगी॥

वेनराज्ञस्तु समयान्मर्यादं ऋषिभिः पुरा ।
या नियोगविधौ बद्धा सा तथास्त्वत्र वच्म्यहम् ॥१२॥
नियोगविधिना पत्यादिभिः सन्तानहेतवे ।
नियोजिताज्ञामुल्लङ्घेच्चेत् सापि तत्पापमाप्नुयात् ॥१३॥

अर्थ—पहिले वेन राजा के समय से जो महर्षि लोगों ने नियोगविधि में मर्यादा बांधी है वह वैसी ही रहो उसमें मैं कहता हूं कि जो स्त्री सन्तान के अर्थ पति आदियों करके (नियोग कीजावे) दूसरे पुरुष के पास भेजी जावे वह स्त्री उस आज्ञा को उल्लंघन करे तो वह भी भ्रूणहत्या के पाप को प्राप्त हो॥

मुने शृणुष्व तेनैव नियोगविधिरादृतः।
यस्याः पतिः परेतो वा क्लीवो वा सा तु देवरात्॥
सपिण्डादेर्नियुक्ता चेत् सतीवोत्पादयेत् सुतान्।
सौदासराज्ञो महिषी पत्युराज्ञामवाप्य च ॥१५॥
वसिष्ठादश्मनामानं सुतं समुदपादयत्।
येन सौदासनृपतेर्वंशो विस्तारमाप्तवान् ॥१६॥

अर्थ—जनकजी कहते हैं कि हे परशुरामजी ! सुनो इस कारण से नियोग विधिका आदर किया गया। जिस स्त्री का पति मर जावे वा नपुंसक हो यहपति आदि के नियोग करने से देवर से वा किसी सपिण्ड पुरुष आदिसे पतिव्रता जैसी पुत्रों को उत्पन्न करे। सौदास राजा की रानी पति की आज्ञा पाकर वसिष्ट ऋषि से अश्मनामक पुत्र को उत्पन्न करती भई जिससे सौदास राजा का वंश विस्तार को प्राप्त हुआ॥

विधवा स्त्री पतिगृहं त्यक्त्वा नान्यं समुद्वहेत्।
स्वजातिः परजातिर्वा पुरुषः कोऽपि वा भवेत् ।।१७।

विधवा पुनरुद्वाहं या करोति स्वजातितः ।
सा वहिष्कारमाप्नोति ब्रह्महत्यां लभेत च ॥१८॥
सान्ते नरकमाप्नोति न तत्स्पृष्टं जलं पिबेत् ।
धर्मश्चतुर्णां वर्णानामेष एव प्रकीर्तितः ॥१९॥
इमं धर्मं न मन्येत यः पुमान्नास्तिकाधमः ।
ब्रह्महत्यासमं पापं स लभेतेति निश्चितम् ॥२०॥

अर्थ—विधवा स्त्री अपने पति के घर को छोड़के दूसरे पुरुष से विवाह न करे चाहे वह पुरुष अपने जात का हो वा पराये जात का हो। जो विधवा स्त्री पुनर्विवाह करती है वह जात से बाहर होती है और उसको ब्रह्महत्या का पाप भी लगता है। वह अन्त में नरक में जाती है। उसका छूआ हुआ जल कोई नहीं पीवे यही चारो वर्णों का धर्म है। जो नास्तिकों में अधम पुरुष इस धर्म को न मानेगा वह ब्रह्महत्या के समान पाप को प्राप्त होगा यह निश्चय है॥

सत्येन मनसा पत्युः सेवा स्त्रीणां विशिष्यते ।
पतिमीश्वरभावेन भजेद्वाक्कायमानसैः ॥२१॥
तदाज्ञां सत्यमनसा धारयेन्न विचालयेत् ।
अन्धं पङ्गुं कुष्ठरुजं सेवेत गुरुणा सदृक् ॥२२॥

अर्थ—सच्चे मन से पति की सेवा करनी यही स्त्रियों का विशेष धर्म है वाणी शरीर और मन से पति को ईश्वर भाव से सेवा करे पति की आज्ञा को सच्चे मन से धारण करे

आज्ञा को टाल न दे । पति अन्धा हो लूला हो कोढ़ी हो उसकी भी गुरु के समान सेवा करे ॥

पत्युराज्ञापालनं हि स्त्रीणां धर्मः परो यतः ।
आज्ञानुसारं सेवेत तिरस्कुर्यान्न जातुचित् ॥२३॥

अर्थ—यतः पति की आज्ञा पालन करना यही निश्चय से स्त्रियों का धर्म है इसलिये पति की जैसी आज्ञा हो वैसी उसकी सेवा करे उसका कभी तिरस्कार न करे ॥

यथावयः पितृभ्रातृपुत्रैस्तुल्यं परं नरम् ।
निरीक्षेताथ तं जातु स्वप्नेप्यमिलपेन्न च ॥२४॥

अर्थ—वय के अनुसार परपुरुष को पिता भाई और पुत्र के समान देखे और पर पुरुष की कभी सुपने में भी इच्छा न करे ॥

प्रसन्नचित्तया भाव्यं सर्वदा सत्स्वभावया ।
अक्रोधया मिष्टगिराऽन्यविवादविमुक्तया ॥२५॥

अर्थ—स्त्री को प्रसन्न चित्त होकर सदा रहना चाहिये सदा अच्छा स्वभाव रखना चाहिये क्रोध करना न चाहिये मीठा वचन बोलना चाहिये किसी के झगड़े से अलग रहना चाहिये ॥

शरीरशुद्धिं कुर्वीत नित्यं स्नायाच्च सन्ध्ययोः ।
शुद्धं च परिधानीयमौत्तरीयं च धारयेत् ॥२६॥

अर्थ—अपने शरीर को शुद्ध रक्खे प्रति दिन दोनों

सन्ध्या में स्नान करे और पहिरने ओढ़ने का वस्त्र शुद्ध ही धारण करे ॥

पतिसेवातत्परा स्याद्भोज्यवस्तूनि नित्यशः ।
कृत्वा शुचितया देवान्निवेद्य प्रथमं पतिम् ॥२७॥
भोजयेत् प्रेमसहिता भुञ्जीयाच्च ततः स्वयम् ।
स्वपत्युर्यावदर्थेन तुष्येन्नेच्छेत् ततः परम् ॥२८॥

अर्थ—पति की सेवा में लवलीन रहे प्रति दिन भोजन की वस्तुओं को पवित्रता से बना के देवताओं को भोग लगा के पहिले पति को प्रेम युक्त होकर भोजन करावे पीछे आप भी भोजन करे। अपने पति के पास जो कुछ हो उतने ही में प्रसन्न रहे उससे अधिक कुछ न चाहे ॥

दुखयेन्न स्वभूषार्थं पतिं तुष्येत् स्वभूषणैः ।
श्वशुरौ वृद्धवर्गांश्च पतिं सेवेत नित्यशः ॥११॥

अर्थ—अपने गहनों के लिये पति को दुःख न देवे जो कुछ अपना गहना होय उसी में संतोष करे और नित्य प्रति सास ससुर बड़े बूढ़े और पति की सेवा करे।

यावज्जीवं पतिं नारी सेवेत गुरुणा समम् ।
पतिर्हि देवता स्त्रीणां न सुखं तन्निरादरात् ॥१२॥
सर्वदा दुःखभाक् सा स्यादन्ते निरयमृच्छति ।
वसेत् सा नरके यावत् सूर्याचन्द्रमसौदिवि॥१३॥

अर्थ—स्त्री जब तक अपना पति जीता रहे तबतक उसकी गुरुकेसमान सेवा करे क्योंकि पतिही स्त्रियों की देवता है पति के निरादरसे उसका कल्याण नहीं है। वह सर्वदा दुःख पाती है अन्त में नरक में जाती है और जब तक सूर्य और चन्द्र आकाश में हैं तब तक नरक में रहती है॥

पतिसेवा ह्यतः स्त्रीभिः सत्येन मनसा सदा।
गुरुणा सदृशा कार्या तद्वचः प्रतिपालयेत् ॥३२॥
पत्युराज्ञां विना नैव देवं कमपि पूजयेत्।
पत्युराज्ञां विना नारी यज्ञे कामपि देवताम्॥३३॥
या तस्याः सकला पूजा निष्फला भवति ध्रुवम्।
पतो हि नार्यास्तु पतिर्देवता गुरुरेवच ॥३४॥

अर्थ—इसलिये सच्चे मन से सदा गुरु के समान पति की सेवा स्त्रियों को करनी चाहिये और पति के वचन का पालन करना चाहिये। पति की आज्ञा के बिना स्त्री किसी देवता की पूजा न करे। जो स्त्री पति के आज्ञा के बिना यज्ञ में किसी देवता की पूजा करती है उसकी की हुई सब पूजा निश्चय से निष्फल हो जाती है क्योंकि स्त्री को पतिही देवता है और पति ही गुरु है॥

यदिच्छति फलं किंचित् पत्युः सेवारता भवेत्।
एवं पतिव्रता लोके दृष्टा नार्योऽतिविश्रुताः ॥३५॥

अर्थ—स्त्री जो कुछ फल की इच्छा करे तो पति ही के

सेवा में बनी रहे। इस प्रकार संसार में दस पतिव्रता स्त्री बहुत प्रसिद्ध हैं॥

सूर्यस्य पत्नी संज्ञाख्या वसिष्ठस्याप्यरुन्धती।
लोपामुद्रा ह्यगस्त्यस्य द्विजराजस्य रोहिणी ॥३६॥
सुकन्या च्यवनस्यासीच्छ्रीमती कपिलस्य च।
सावित्री सत्यवत्पत्नी दुष्यन्तस्य शकुन्तला ॥३७॥
दमयन्ती नलस्यात्रेरनसूयेति ता दश।
पतिव्रतासु सर्वासु स्त्रियः श्रेष्ठतमा भुवि ॥३८॥
एतास्वपि च सावित्रीदमयन्त्यौ वरे मते।
पतिव्रतात्वे सावित्री तयोरपि वरा मता ॥३९॥

अर्थ—सूर्य की स्त्री संज्ञा। (१) वसिष्ठ की स्त्री अरुन्धती। (२) अगस्त्य की लोपामुद्रा। (३) चन्द्रमा की रोहिणी। (४) च्यवन ऋषि की सुकन्या। (५) कपिल मुनि की श्रीमती (६) सत्यवान् की स्त्री सावित्री। (७) दुष्यन्त राजा की स्त्री शकुन्तला। (८) नल राजा की स्त्री दमयन्ती। (९) और अत्रि ऋषि की स्त्री अनसूया। (१०) ऐसी ये दस स्त्रियें संसार भर की संपूर्ण पतिव्रता स्त्रियों में अत्यन्त श्रेष्ठ हैं इन दसों में भी सावित्री और दमयन्ती श्रेष्ठ हैं इन दोनों में भी पतिव्रता पन में सावित्री श्रेष्ठ है।

श्रुत्वेत्यमूत्रे परशुधरो राजन् वदाशु मे।
कथं पतिव्रतास्त्रीषु सावित्री श्रेष्ठतां गता ॥४०॥

अर्थ—ऐसा सुनके परशुराम जी बोले कि हे राजन्! पतिव्रता स्त्रियों में सावित्री श्रेष्ठता को कैसो पाई सो मुझे शीघ्र कहो ॥

जनक उवाच—

श्रुतिस्मृत्युदितं कर्मयोगं समनुतिष्ठति ।
यस्तस्य किमशक्यं हि प्राप्तव्यमवशिष्यते ॥४१॥

अर्थ—जनक राजा परशुरामजी से कहते हैं कि जो वेद और धर्मशास्त्र में कहे हुए कर्मयोग को उत्तम प्रकार से करता है उसको कौनसी वस्तु मिलना शेष है जो अप्राप्य है (मिल नहीं सकती)।

अत्रैकं कथयिष्येहमितिहासं पुरातनम् ।
सावधानेन मनसा पावनं श्रूयतामिदम् ॥४२॥

अर्थ—इस विषय में मैं एक पवित्र पुरातन इतिहास कहता हूं सावधान चित्त से इसको सुनो ॥

आसीदश्वपतिर्नाम मद्रदेशे धरापतिः ।
परमो धार्मिको दानशीलः सत्यवचाः सदा ॥४३॥
किमु कार्यं करोमीति सोऽहर्निशमचिन्तयत् ।
मामिकानां प्रजानां स्याद्येनानवरतं हितम् ॥४४॥

अर्थ—मद्र देश में अश्वपति नाम बड़ा धर्मात्मा राजा था। जो सदा सच बोलता, दान पुण्य करता और दिन रात इसी सोच में रहता कि मैं कौनसा कार्य करूं जिससे सदा मेरी प्रजा का हित हो॥

नचासीत् तस्य संतानं काले वहुतिथे गते ।
विरते यौवने क्लिष्टं तदर्थं व्रतमाचरत् ॥४५॥

अर्थ—उसको कोई सन्तान नहीं था बहुत काल बीत गया जवानी भी उतार पर आई तब वह सन्तान पाने के लिये कड़ा व्रत करने लगा॥

वर्तता ब्रह्मचर्येणाहर्निशं श्रद्धयार्चनम् ।
सावित्र्या अकरोद्देव्या तथादत् किंचिदल्पकम्॥४६॥

अर्थ—दिन रात ब्रह्मचर्य से रहता औसावित्री देवी की श्रद्धा से पूजा करता और पीछे कुछ थोड़ासा खा लेता॥

एवमष्टादश समा व्रतं साधयतो ययुः ।
तदा प्रसन्ना सावित्री दत्वा दर्शनमब्रवीत् ॥४७॥

अर्थ—ऐसे व्रत को साधते हुए अट्ठारह बरस बीते। तब सावित्री ने प्रसन्न होकर दर्शन देकर कहा॥

राजंस्त्वद्ब्रह्मचर्येण भक्त्याहं तोषिता भृशम् ।
त्वत्कामाः पूर्तिमेष्यन्ति वृणीष्व वरमीप्सितम्॥४८॥
च्युतो धर्मपथान्न मा भू राज्ञोक्तं देवि चेन्मयि ।
प्रसन्ना भवती तर्हि मातर्मे देहि सन्ततिम् ॥४९॥

अर्थ—हे राजन् ! तुम्हारे ब्रह्मचर्य और भक्ति से मैं बहुत प्रसन्न हूं। तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी जो चाहो सो वर मांगो। धर्म की राह से मत हटना। राजा ने कहा कि हे देवी जो आप मुझपर प्रसन्न हैं तो हे मां ! मुझे सन्तान दीजिये॥

अपुत्रस्य गतिर्नेति श्रुतं कृतमतो व्रतम् ।
सन्तानार्थं मया तत् त्वमेवं कुरु दयां मयि ॥५०॥
बह्व्यः सन्ततयः स्युर्मे येन शोभा कुलस्य च ।
सावित्र्योक्तं मयैतत् ते ज्ञातं प्रागेव हृद्गतम् ॥५१॥

अर्थ—अपुत्र की गति नहीं होती ऐसा मैंने सुना था अतः सन्तान के लिये व्रत किया है। सो आप मेरे ऊपर ऐसी दया कीजिये कि जिससे मुझे बहुतसी सन्तति हों और कुल की शोभा हो। सावित्री ने कहा कि हे राजा मैंने पहिले ही से तुम्हारे मन की यह बात जान ली थी॥

अल्पीयोभिरहोभिस्तत् तव कन्या भविष्यति ।
त्वं किंचिदपि मा वादीः शुभोदर्कोऽस्तुयैव ते ॥५२॥

अर्थ—सो बहुत थोड़े दिनों में तुम्हें एक कन्या होगी तुम कुछ भी मत बोलो इसीसे तुमको भविष्यत् काल में शुभ फल होगा॥

प्रणनाम स सावित्रीं सापि चान्तर्हिताभवत् ।
राजापि गृहमागत्याशासीद्राज्यं स्वधर्मतः ॥५३॥

अर्थ—राजा ने सावित्री को (दण्डवत्) प्रणाम किया सावित्री जी भी अन्तर्ध्यान होगई। राजा भी घर पर आ के क्षत्रिय धर्म से राज्य का शासन करने लगा॥

अथो कतिपनाहस्सु व्यतीतेषु महीभृतः ।
महिषी गर्भमाधत्त समयेऽसूत कन्यकाम् ॥५४॥

अर्थ—इस उपरान्त कुछ दिन बीतने पर राजा की पट्ट रानी ने गर्भ धारण किया। समय पर (नौ मास पूरे होने पर) वह कन्या को जनी॥

संचस्कारे यथाशास्त्रं राज्ञा कन्यातिसुन्दरी।
लब्धा प्रसादात् सावित्र्याः सावित्री नामतोऽभवत्॥५५॥

अर्थ—राजा ने अत्यन्त सुन्दर कन्या के शास्त्र रीति से (जातकर्म आदि) संस्कार किये सावित्री के प्रसाद से वह मिली इसलिये इसका नाम सावित्री हुआ॥

प्रपेदे यौवनं श्रीवद्वर्धमाना नृपात्मजा।
स्वयम्भुवा चित्रपटे विलिख्योज्जीवितेव सा॥५६॥

अर्थ—राजकन्या लक्ष्मी की नाईं बढ़ती हुई यौवन अवस्था को प्राप्त हुई। वह ऐसी थी कि मानो ब्रह्माजी ने चित्रपट पर लिख के जीव डाल दिया हो॥

कुरङ्गनयनां सिंहकटिं स्वर्णसमद्युतिम्।
विलोक्य मेनिरे लोका निखिला देवकन्यकाम्॥५७॥
तनोर्विलोक्य कञ्जाक्ष्यास्तेजोज्वाला विनिर्गताः।
वक्तुं कोप्युद्वहामीति न शशाक भुवस्तले॥५८॥

जिसकी हिरन की सी आंखें सिंह की सी कमर सोने की सी छवि देख कर सब लोक उसे देवकन्या मानते थे। उस कमलनयनी के तन से तेज की ज्वाला निकलती हुई देख के भूमि पर किसी का हियाव नहीं पड़ता था कि उसके साथ ब्याह करने को कहे॥

एकदा शिरसा स्नाता श्रुत्वा श्रुतिगिरः पुरः ।
हुत्वा वेदविधानेन विप्राणां पठतां श्रुतीः ॥५९॥
तत्प्रसादस्रजं हस्ते कृत्वा लक्ष्मीरिव स्वयम् ।
उपेत्य पितरं साध्वी चक्रे स्रजमुपायनम् ॥६०॥
स्थितैकतः प्राञ्जलिता युवतिं चाविवाहिताम् ।
देवीमिव नृपो दृष्ट्वा स्वां सुतामब्रवीदिदम् ॥६१॥

अर्थ—एक समय सिर मल के नहा के वेदरीति से होम कर वेद पढ़ते हुए ब्राह्मणों की" आगे वेद वाणी सुनकर और उनके प्रसाद की माला को हाथ में लिये हुए आपरूप लक्ष्मी की नाईं यह सती कन्या पिता के पास जाकर माला भेट करती भई। और एक ओर हाथ जोड़ के खड़ी भई। राजा भी अपनी कन्या को देवी के समान तथा जवान होकर विना ब्याही हुई देख के उसको कहता भया॥

"कन्ये विवाहयोग्यासि वरमन्वेषय स्वयम् ।
परीक्ष्याख्याहि तन्नामार्पयिष्येऽस्मै यमिच्छसि॥६२॥

अर्थ—हे बेटी। तू विवाह करने योग्य हुई सो आपही (अपनेयोग्य) वर ढूंढ ले। तू जिसको चाहती हो उसका नाम बता दे उसी को तुझे सौंप देंगे॥

नोद्वाहयति यः कन्यां यश्च नोद्वहते नरः ।
मृते पितरि नो पाति मातरं स कलङ्कभाक् ॥६३॥

तस्मान्मम वचः पुत्रि संमान्य निजहेतवे ।
वरमन्वेषय त्वं मां कलङ्को येन न स्पृशेत् ॥६४॥

अर्थ — जो पिता अपनी कन्या का विवाह नहीं करता जो पुरुष अपना विवाह नहीं करता और जो पिताके मरने पर माता का पालन नहीं करता इन तीनों को कलङ्क लगता है। सो हे बेटी ! मेरा वचन मान के अपने लिये वर ढूंढो जिससे मुझे कलङ्क का स्पर्श नहो ॥

वृद्धमन्त्रिण आहूय वार्त्तामुक्त्वा नृपोऽखिलाम् ।
कृत्वा दूष्याणि शिबिका दासान् दासी रथान्न सह॥६५॥
मन्त्रिभो रक्षितां वृद्धैर्विष्वक् तां निरयापयत् ।
न किंचिल्लज्जया प्रोच्य सावित्री हैमनं रथम् ॥६६॥
समारुह्य प्रथमतो मुनीनां रुचिराण्यगात् ।
तपोवनानि तत्रापि वृद्धानां हि तपस्विनाम् ॥६७॥
प्रणम्य चरणौ सर्वाप्यन्विष्टा वनसंहतिः ।
ततस्तीर्थेषु संभ्रम्य पुनरायात् स्वकं पुरम् ॥६८॥

अर्थ—राजाने बूढ़े मंत्रियों को बुलाकर के सब बातकह के डेरे पालकी दास दासी और रथों को साथ करके वृद्ध मंत्रियों के द्वारा चारो ओर से रक्षा की हुई उस कन्या को विदा किया। सावित्री लज्जा से कुछ न कहके सोने के रथ पर चढ़के ऋषियों के सुन्दर तपोवन में पहिले गई। वहां भी वृद्ध ऋषियों के चरनों को प्रणाम करके उसने सब वन समूह ढूंढ डाले। उपरान्त तीर्थों में घूमके फिर अपने घर आई ॥

एकदा स्वसभामध्ये निविष्टेऽश्वपतौ नृपे ।
वार्तालापं नारदेन मुनिना सह कुर्वति ॥६९॥
सावित्री मन्त्रिभिर्युक्ताऽययौ तत्र गृहागता ।
निविष्टं नारदं पित्रा सह दृष्ट्वाभ्यवन्दत ॥७०॥

अर्थ—एक समय अपनी सभा में राजा अश्वपति नारद मुनि के साथ बातचीत करते रहते घर आई हुई सावित्री मन्त्रियों के साथ वहां आई। उसने नारद को पिता के साथ बैठे हुए देख के दोनों को प्रणाम किया ॥

तां दृष्ट्वा नारदोऽवादीत् क्व गता कुत आगता ।
सुता ते यौवनस्थापि कथं नोद्वाहिता नृप. ॥७१॥

अर्थ—उसे देख नारद जी बोले कि हे राजा ! तुम्हारी लड़की कहां गई थी कहां से आई और जवान होने पर भी उसका विवाह क्यों नहीं किया । या

धानतया ने

राज्ञोक्तमेतत्कार्यार्थमेवेयं
वान् पश्चतां ब्रजेत्
आयाता पृच्छयतामि

बोले कि हे राजा एकही दोष इस

अर्थ—राजा ने इन गुणों को दबाये हुए है जिसके था मे। अभी आई है उपाय नहीं है उस दोष को सत्यवान स्वीकार किया है ॥ एक वर्ष में सत्यवान् मर जायगा ॥

सावित्र्योक्तं युमताह सुतामन्यं वरं वृणु ।
स कुमारेऽन्वयस्त्रिं देवताः पूजयन्ति यम् ॥८३॥

संप्राप्यावसरं राज्यं हृतं भूपैरनन्तरैः ।
तपश्चरत्युषित्वातो वनं राज्ञ्या सुतेन सः ॥७४॥

अर्थ—सावित्री ने कहा कि धर्मात्मा द्युमत्सेन नाम शाल्व देश के राजा हैं। वे राजकुमार अल्पवय रहते कालवश अन्धे हुए। अवसर पाके पास के राजाओं ने उनके राज्य को छीन लिया। इसलिये वे राजा, रानी और राजकुमार के साथ वन में रह कर तपस्या करते हैं॥

कुमारः सत्यवान् नाम स मया मनसा वृतः ।
उवाच नारदो राजन् सावित्र्या तव कन्यया ॥७५॥
सत्यवन्तं गुणानेव संप्रेक्ष्य व्रियमाणया ।
अनुष्ठितमजानन्त्यानुचितं च भयङ्करम् ॥७६॥

अर्थ—यह सत्यवान नाम राजकुमार मैंने मन से वरा है। नारदजी बोले कि हे राजा! तुम्हारी कन्या सावित्री ने केवल गुणों के [illegible] आपि [illegible] त्यवान् को वरते हुए बिना जाने मुझे अनुचि[illegible] ी सर्वाप्या[illegible] श्रम किया॥

ततस्तेऽप्यपु संभ्रम्य पुनराय[illegible] ब्रूयाद्यथा भवान् ।

अर्थ—राजाने बूढ़े मंत्रियों को [illegible] कुमुपाक्रमत् ॥७७॥

के डेरे पालकी दास दासी और रथों को [illegible] न् होना चाहिये पीछे

के द्वारा चारों ओर से रक्षा की हुई उन क[illegible] सुनके नारदमुनि कहने

सावित्री मज्जा से कुछ न कहके सोने के

के सुन्दर तपोवन में पहिले गईं। वह

चरणों को प्रणाम करके उसने गय वन [illegible] । सूर्यसन्निभः ।

[illegible] तीर्थों में घूमके फिर [illegible] धवता समः ॥७८॥

दानी वली रन्तिदेवसमः सुन्दर इन्दुवत् ।
धर्मात्मा शिविवच्चास्ति तथापि वलवान् विधिः ॥७९॥

अर्थ—हे राजा ! सत्यवान् राजकुमार सूर्य के समान तेजस्वी बुद्धि में वृहस्पति के समान, इन्द्र के ऐसा वीर रन्तिदेव के तुल्य दानी और वलवान् चन्द्र के ऐसा सुन्दर और शिवि के समान धर्मात्मा है तो भी प्रारब्ध वलवान् है ॥

राजोवाच गुणा उक्ता वहवो दोष उच्यताम् ।
येन नोद्वाहयोग्योऽयमिति ब्रूषे महामुने ॥८०॥

अर्थ—राजा ने कहा कि हे महामुनि जी ! आपने बहुत से गुण बताये अब दोष कहिये जिस दोष से वह विवाह योग्य नहीं है ऐसा आप कहते हैं ॥

उवाच नारदो दोष एक एवात्र तिष्ठति ।
गुणान् सर्वानधःकृत्य नोपायो यद्विनाशने ॥८१॥
कश्चनास्ति शृणुष्वेवं सावधानतया नृप ।
अद्यप्रभृति वर्षेण सत्यवान् पञ्चतां व्रजेत् ॥८२॥

अर्थ—नारदजी बोले कि हे राजा एकही दोष इस सत्यवान् में है। जो सब गुणों को दबाये हुए है जिसके मिटाने के लिये कोई उपाय नहीं है उस दोष को सावधान होकर सुनो। आज से एक वर्ष में सत्यवान् मर जायगा ॥

इति श्रुत्वा नृपः प्राह सुतामन्यं वरं वृणु ।
महात्मा नारदः प्राह देवताः पूजयन्ति यम् ॥८२

एक एव महादोषो विनाश्य गुणसंहतीः ।
वर्तते सत्यवत्यब्दे पूर्णे यन्मृत्युमेष्यति ॥८४॥

अर्थ—यह सुनके राजा ने कन्या सावित्री से कहा कि तू दूसरे वर को वर । जिनकी देवता लोग पूजा करते हैं वे महात्मा नारदजी कहते हैं कि गुण समूह को नाश करके एक ही भारी दोष सत्यवान् में है जो वर्ष पूरा होने पर यह मर जायगा ॥

सावित्र्योक्तं हि वाग्दत्ता या स्याद्दत्तैव सा सुता ।
वह्वस्य जीवनं वाल्पं स गुणी विगुणोऽपि वा ॥८५॥
अधुनैतद्विचारेण तात किं स्यात् प्रयोजनम् ।
मया वृतो यः स वृतो नान्यं वरितुमुत्सहे ॥८६॥
चिन्त्यते मनसा प्राक् तद् वक्तुं शक्यं ततस्ततः ।
कर्तुं शक्यमतः स्वान्ते निश्चितं निश्चितं मया ॥८७॥

अर्थ—सावित्री ने कहा कि जो कन्या वाणी से दी गई वह दी ही गई । हे पिता ! अब "इसका जीवन बहुत है या थोड़ा है यह गुणवान् है या निर्गुण है इस विचार से क्या प्रयोजन है । मैंने वरा सो वरा दूसरे को वरने नहीं चाहती । जो पहिले मन में विचारते हैं वही पीछे कह सकते हैं पीछे वही काम कर सकते हैं । इसलिये जो मन में निश्चित हुआ वही मैंने निश्चय किया ॥

नारदः प्राह सावित्र्या वचो राजन्ननुत्तरम् ।
न शक्यमुल्लङ्घयितुं निश्चितं यत्कृतानया ॥८८॥

सद्गुणाः सत्यवति ये तावन्त्यन्येषु सन्ति न ।
अतः सत्यवतोद्वाहः सावित्र्याः संमतो मम ॥८९॥

अर्थ—नारदजी ने कहा कि हे राजा ! सावित्री का वचन बिना उत्तर का है जो इसने निश्चय किया है वह अन्यथा नहीं हो सकता। जो सत्यवान् में उत्तम गुण हैं उतने दूसरे पुरुषों में नहीं हैं। इसलिये सत्यवान् के साथ सावित्री का विवाह होना मुझे भी संमत है॥

राज्ञोक्तं मन्यते नैषा संमतोऽत्र भवान् गुरुः ।
भवद्वागपि नोल्लङ्घ्या दास्ये सत्यवते सुताम् ॥९०॥
यत् स्याद्भाग्ये भवतु तन्न करिष्येऽनृतं वचः ।
ऊचे नारद उद्वाहः सावित्र्या भवतात् सुखम् ।९१।

अर्थ—राजा ने कहा यह मानती नहीं इसके मत में आप गुरु भी संमत हैं। आपका वचन भी टालना न चाहिये इसलिये सत्यवान् को कन्या दूंगा। जो भाग्य में हो वह हो मैं वचन को झूठ न करूंगा। नारदजी ने कहा कि सावित्री का विवाह सुख पूर्वक हो॥

व्रजामि युष्माकमिहास्तु भद्र-
मुक्तेति भूपं स मुनिर्जगाम ।
भूपोऽपि कन्योपयमोपयुक्त-
मुपक्रमं कर्तुमथोद्यतोऽभूत् ॥९२॥

अर्थ—मैं जाता हूं तुम लोगों का भला हो ऐसा राजा से कहके नारद जी चले गए। राजा भी कन्या के विवाह के उपयोग की तयारी करने में उद्योग करने लगा ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां द्वात्रिंशः सर्गः ॥३२॥



जनक उवाच—

राजा सुतोद्वाहविचारबुध्या
वस्त्राणि पात्राणि विभूषणानि ।
संपाद्य विप्रैः सह सन्मुहूर्ते
सुतां समादाय वनं जगाम ॥१॥

अर्थ—जनक राजा परशुराम जी से कहते हैं कि राजा कन्या के विवाह के विचार की बुद्धि से गहने कपड़े बासन भांड़े इकट्ठे करके ब्राह्मणों के साथ शुभ मुहूर्त में कन्या को साथ लेकर वन में जाता भया ॥

तपोवने द्युमत्सेनकुट्यासन्नं द्विजैः सह ।
यानादुत्तीर्य पद्भः सन् ययौ भूपं तपस्विनम् ॥२॥

अर्थ—तपोवन में द्युमत्सेन राजा की कुटी के पास ब्राह्मणों के साथ सवारी से उतर करके पैदल होकर तपस्वी राजा के पास जाता भया ॥

तत्रापश्यद् द्युमत्सेनमधस्ताच्छाकशाखिनः ।
अन्धं कुशासनासीनं विनीतोऽश्वपतिर्नृपः ॥३॥
नाम्नाभिवाद्य संपूज्य ततोऽपृच्छदनामयम् ।
द्युमत्सेनोऽपि सत्कृत्य गवाश्वपतिभूपतिम् ॥४॥
उपहारैर्बहुविधैः पप्रच्छागमकारणम् ।
अथो बभाषेऽश्वपतिः संक्षिप्यार्थवदुत्तरम् ॥५॥

अर्थ—वहां अश्वपति राजा ने अन्धे द्युमत्सेन राजा को सखुआ के वृक्ष के नीचे कुशासन पर बैठे हुए देखा और अपना नाम लेकर अभिवादन विधि से नमस्कार करके और पूजन करके कुशल प्रश्न किया। द्युमत्सेन ने भी गौ तथा अनेक खाने पीने के उपहारों से अश्वपति का सत्कार करके आने का कारण पूछा। इस उपरान्त अश्वपति संक्षेप से अर्थ युक्त उत्तर देते भये॥

इमां तु मद्दुहितरं सावित्रीं तनयस्तव ।
धर्मतः प्रतिगृण्हातु तद्भवान् स्वीकारोत्विति ॥६॥

अर्थ—इस मेरी कन्या सावित्री को आपका पुत्र धर्म से प्रतिग्रह करे सो बात आप स्वीकार करें॥

अथाब्रवीद् द्युमत्सेनो भ्रष्टराज्यो वने वसन् ।
तपश्चरामि ते कन्या कथं दुःखं सहेत तत् ॥८॥

अर्थ—इस उपरान्त द्युमत्सेन बोला कि मैं राज्य से भ्रष्ट होकर वन में रह कर तपस्या करता हूं उस दुःख को तुम्हारी कन्या कैसे सहेगी॥

अथाश्वपतिराहेति सुखं दुःखं क्रमागतम् ।
अहं वेद्मि सुता वेत्ति विचार्यैवागता वयम् ॥८॥
मया वीक्ष्यैव विज्ञप्तमुभयोः कुलयोर्हितम् ।
मा व्यधाः समसंबंधं प्रत्याख्याय निराशताम् ॥९॥

अर्थ—इस पीछे अश्वपति ने यह कहा कि सुख और दुःख (एक के पीछे एक) क्रम से आतेही रहते हैं यह मैं जानता हूं कन्या भी जानती है। हमलोग ऐसा सोच विचार करके ही आपके पास आये हैं। मैंने दोनों कुल का हित देख ही के प्रार्थना की है। आप इस बराबरी के सम्बन्ध को नहीं करके मुझे निराश मत कीजिये॥

द्युमत्सेनोऽब्रवीदिष्ट एव संबन्ध एष नौ ।
ममाऽसीद्धीनराज्यत्वाद्यत्किंचिदिदमीरितम् ॥१०॥
प्राक्चित्तगं यदासीन्मेऽतिथिभूय त्वयोदितम् ।
समाहूयाथ तौ विप्रांस्तपोवनगतानपि ॥११॥
पाणिग्रहं सत्यवता सावित्र्याः शास्त्रमार्गतः ।
समकारयतां राजाश्वपतिर्भूषणादिकम् ॥१२॥
जामात्रे च दुहित्रे च समानीतं ददौ मुदा ।
द्युमत्सेनमथामन्त्र्य प्रत्यगात् स्वपुरं सुखम् ॥१३॥

अर्थ—द्युमत्सेन ने कहा कि अपने दोनों का सम्बन्ध होना मुझे पहिले इष्ट ही था परन्तु राज्य हीन होने से यह कुछ मैंने कहा। जो कुछ मेरे चित्त में था वही पाहुन बन के

आपने कहा। यह कहने के उपरान्त दोनों राजाओं ने तपोवन के श्री ब्राह्मणों को बुला के सत्यवान् से सावित्री का विवाह शास्त्र की रीति से कराया। और राजा अश्वपति लाये हुए गहने कपड़े आदि दमाद और कन्या को आनन्द से देता भया। फिर द्युमत्सेन से बातें करके सुख से अपने नगर को जाता भया॥

स.सत्यवान् गुणवतीं वधूं प्राप्याभवत् सुखी।
सावित्र्यपिवरं श्रेष्ठं लब्ध्वा स्वाङ्गेषु नो ममौ ॥१४॥

अर्थ—यह सत्यवान्‌गुनवारी दुलहिन को पाकर सुखी भया और सावित्री भी मन चाहे वर को पाके अपने शरीर में फूली न समाई॥

पितरि स्वपुरं याते सावित्री भूषणादिकम्।
सर्वमुत्तार्य काषायं युक्तं परिदधेंऽशुकम् ॥१५॥

अर्थ—पिता अपने नगर जाने पर सावित्री ने गहने आदि उतार के (वन वासके) योग्य गेरुवा वस्त्र पहिन लिया।

सर्वान् सिषेवे मिष्टाभिर्मृदुगीभिरतोषयत्।
नैच्छद्भोगविलासादीन् सदासीत् सरलेव सा ॥१६॥

अर्थ—वह सभों की सेवा करती, मीठी और नरम बाणी से सभों को प्रसन्न करती, अपने भोग और विलासों को नहीं चाहती सदा सीधी सी बनी रहती॥

मिष्टवाक्स्नेहचातुर्यैः पतिं सुरवदर्चया।
श्वशुरं सेवया श्वश्रूं शीलेनान्यानतूतुषत् ॥१७॥

अर्थ—मीठी बोली स्नेह और चतुराई से पति को, देवता जैसे पूजा से ससुर को, सेवा करके सासू को और अन्य लोगों को अपने सुस्वभाव से प्रसन्न करती थी।

वनेतपश्चरंन्त्येवंनिन्येऽहानि च कानिचित् ।
नारदोक्तमविस्मृत्य शुचासीद्दुर्बलानिशम् ॥१८॥

अर्थ—इस रीति से वन में तपस्या करती हुई सावित्री ने कितने ही दिन विताये। परन्तु नारद की कही हुई बात को न भूल के शोक से दिन रात दुबली होती जाती थी॥

अथो दिनं सत्यवतो विधिदिष्टमुपागतम् ।
विज्ञाय परिसंख्यायत्र्यहशेषं बुबोध तम् ॥१९॥

अर्थ—इस पीछे सत्यवान् का विधिदृष्ट (मरण का) दिन पास आया हुआ जानके (हिसाब) गणित करके तीन दिन शेष हैं ऐसा जाना॥

अतस्त्र्यहं निराहारं व्रतं कर्तुं समुद्यता ।
तद् विज्ञाय द्युमत्सेनः सावित्रीमाह सान्त्वयन् ॥२०॥
सुकुमारा नृपसुता त्वं, दुःसाध्यं व्रतं मुनेः ।
कथंत्र्यहं निराहारं त्वयैतत् सेत्स्यते व्रतम् ॥२१॥

अर्थ—इसलिये यह सावित्री तीन दिन निराहार व्रत करने को उद्युक्त हुई। यह जान के द्युमत्सेन राजा सावित्री को समझा कर कहने लगा कि तू राजकन्या सुकुमार है और व्रत मुनि को भी दुःसाध्य है सो तीन दिन निराहार व्रत तुझसे कैसे निभ सकेगा॥

साहोद्वाहात् परं वर्षे व्रतसंकल्प एव मे ।
भवान्‌ मा खिदेदेतं तु निर्वाहिष्यन्ति देवताः ॥२२॥
गृहीतं व्रतमेतत्तु मया च यतचित्तया ।
मनोनियमनाद्राजन्‌ किं दुःसाध्यं भुवस्तले ॥२३॥

अर्थ—सावित्री ने कहा कि महाराज ! विवाह के उपरान्त वर्ष भर पर मेरा व्रत करने का संकल्प ही है। आप खेद न करें व्रत को तो देवता ही निभा देंगे। यह व्रत मैंने मन को रोक कर ग्रहण किया है हेराजन् ! इस भूमितल पर मन के रोकने पर कौनसी ऐसी वस्तु है जो दुःसाध्य हो ॥

राजाह वच्मीति कथं स्वीकृतं मा कृथा व्रतम्‌ ।
निर्वहस्व व्रतं शक्त्येत्येव वक्तुं ममोचितम्‌ ॥२४॥

अर्थ—राजा ने कहा कि मैं ऐसे कैसे कहूं कि स्वीकार किया हुआ व्रत मत करो। शक्ति के अनुसार व्रत को निभाओ यही कहना मुझे उचित है ॥

इत्युक्त्वाविरते राज्ञि सावित्री व्रतमाचरत्‌ ।
सा काष्ठपुत्तिकेवासीद्‌ द्वितीयदिवसात्यये ॥२५॥

अर्थ—राजा ऐसा कहके चुप होने पर सावित्री ने व्रत को किया। दूसरे दिन सायंकाल में वह काठ की पुतली जैसी हो गई ॥

कथंचिदेव तां रात्रिं निन्ये नारदवाक्स्मृतेः ।
प्रातरुत्थाय सुस्नाता हुत्वाग्नीन्‌ प्रथमेक्षणे ॥२६॥

नत्वैव श्वशुरं श्वश्रूं द्विजान् वृद्धान् पुरः स्थिता।
ते सर्वे सुखसौभाग्यमस्त्वित्याशिषमब्रुवन् ॥२७॥

अर्थ—नारद की बात का स्मरण करके किसी प्रकार से उस रात को बिताया। प्रातःकाल उठके सुन्दर स्नान करके अग्नि में होम देके दो घड़ी दिन चढ़े सासू ससुर ब्राह्मण और वृद्ध जनों को नमस्कार करके आगे आकर खड़ी हुई। वे सब लोग तुझे सुख और सौभाग्य हो ऐसा आशीर्वाद देते भए ॥

श्रुत्वाशिषं तु सावित्री मनस्येवं व्यचिन्तयत्।
पश्यामि सत्या का वाक् स्यादेतेषां नारदस्य वा ॥२८॥

अर्थ—आशीर्वाद सुन के सावित्री ने मन में ऐसा विचारा। देखती हूं कि इन लोगों की अथवा नारद की किसकी वाणी सत्य होती है ॥

व्याकुला नारदोक्त्यासन्निदीयान् समयो यथा।
एकान्ते तु स्थितां प्रेम्णा श्वशुरौ तामवोचताम् ॥२९॥
वत्से व्रतं ते सम्पूर्णमिदानीं पारणं कुरु।
तयोक्तं मे व्रतं पूर्णं सायं स्यादस्य पारणा ॥३०॥

अर्थ—जैसे जैसे समय बहुत पास होता जाता था वैसे वैसे नारद के वचन से घबराती थी इससे एकान्त में बैठी थी। उसको सास ससुर दोनों प्रेम से (आकर) कहने लगे। हे बेटी! तेरा व्रत पूरा हुआ अब इसकी पारणा करो। सावित्री ने कहा कि मेरा व्रत पूरा हुआ आज सांझ को इस की पारणा होगी ॥

एतस्मिन्नन्तरे यातुं वनमुद्यम्य सत्यवान् ।
कुठारं निर्गतो गेहात् सावित्री तं व्यजिज्ञपत् ॥३१॥

अर्थ—इतने में सत्यवान् वन में जाने के लिये कुल्हाड़ी उठा कर घर से बाहर निकला। उनसे सावित्री ने प्रार्थना की॥

नैकाकिनाद्य गन्तव्यं त्वया साकं व्रजाम्यहम् ।
सोऽब्रवीज्जातु नो याता वनं व्यध्वं व्रजेः कथम्॥३२॥
चतुर्दिनोपवासेन खिन्ना चरणचारिणी ।
सावित्र्याहोपवासेन न खेदो नाङ्घ्रियानतः ॥३३॥
मम स्यात् स्यां न च श्रान्ता व्रतस्यास्य विधिस्त्वयम्।
नाद्य त्वया वियुक्ता स्यां यातुमाज्ञाप्यतामतः॥३४॥

अर्थ—आज तुम अकेले मत जाओ तुम्हारे साथ मैं चलूंगी। सत्यवान् ने कहा कि तुम कभी वन में नहीं गई हो। राह विकट है, तुमको चार दिन का उपवास है, पांव से चलना है सो कैसे चलोगी। सावित्री ने कहा कि मुझे उपवास से तथा पांव के चलने से खेद नहीं होगा और न मैं थकूंगी॥ इस व्रत का यह विधि है कि आज तुमसे अलग न रहूंगी इसलिये चलने की आज्ञा दीजिये॥

सत्यवानाह मत्साकं चेद्यियासासि पृच्छ मे ।
पितरौ येन मां कोपि न किंचिदपि दूषयेत् ॥३५॥

अर्थ—सत्यवान् ने कहा कि जो मेरे साथ चलने चाहती है। तो मेरे मां बाप को पूछो जिससे मुझे कोई भी दोष न देवे॥

ततः सावित्र्युपव्रज्य श्वशुरावाह साञ्जलिः ।
भवन्तौ स्थः प्रमाणं मइति विज्ञाप्यते मया ॥३६॥

अर्थ—उस पीछे सावित्री सास ससुर के पास जाके हाथ जोड़ के कहने लगी कि मुझे आप ही दोनों प्रमाण हैं इस लिये मैं प्रार्थना करती हूं ॥

फलेन्धनान्यानयितुं यान्ति मत्स्वामिनो वनम् ।
तैः साकं यातुमिच्छामि यद्याज्ञा भवतां भवेत् ।३७।

अर्थ—मेरे स्वामी फल (पुष्प) और इन्धन (समिधा) लाने के लिये वन में जाते हैं जो आपकी आज्ञा हो तो उनके साथ में जाने चाहती हूं ॥

नाद्य पत्या वियुक्ता स्यामिति व्रतविधिर्मम ।
व्रजन्ति ते तु गुर्वर्थमिति रोद्धुं न शक्यते ॥३८॥
ममाप्यब्दो व्यतीयाय कुट्या नाहं बहिर्गता ।
पुष्पितानि वनान्यद्य द्रष्टुमुत्सहते मनः ॥३९॥

अर्थ—आज पति से अलग न होऊं यह मेरे व्रत की विधि है। वे तो गुरुजी के लिये (पुष्प फल लकड़ी लेने को) जाते हैं इसलिये रोक भी नहीं सकती। मुझे भी वर्ष हो गया कि कुटी के बाहर नहीं गई। आज मेरा जी चाहता है कि फूले हुए वनों को देखूं ॥

द्युमत्सेनोऽब्रवीत् पत्नीं यदाप्रभृति ते वधूः ।
समानीतेह तत्पित्रा नैतया किंचिदर्थितम् ॥४०॥

यदुक्तमधुना किंचिद्धेतुमत् सांप्रतं तु तत् ।
अनुजानीह्यतो यातुं पत्या सह वधूं निजाम् ॥४१॥

अर्थ—द्युमत्सेन राजा ने अपनी स्त्री से कहा कि जब से तुम्हारी बहू को उसका पिता यहां लाया तब से (आज तक) इसने कुछ भी नहीं कहा अभी जो कुछ कहा वह कारण सहित और योग्य कहा। इसलिये अपनी बहू को उसके पति के साथ जाने की आज्ञा दे ॥

साह गच्छ त्वयापत्युर्न कार्या समयच्युतिः ।
सावित्रीत्थं समाज्ञप्ता ययौ पत्या समं वनम् ॥४२॥

अर्थ—सासू ने कहा कि हे बहू ! जाओ तुमने पति (सत्यवान्) का अकाज नहीं करना। इस प्रकार आज्ञा पाकर सावित्री पति के साथ वन में जाती भई ॥

भाविशोकाकुलापीयं सस्मितेवाभवद्बहिः ।
नृत्यन्ति कानने रम्ये दृष्ट्वा यूथानि बर्हिणाम् ॥४३॥

अर्थ—यह होनहार शोक से घबराई हुई थी तो भी रमणीय (सुहावने) जङ्गल में मोरों के झुंडों को नाचते हुए देख कर बाहर से मुसकिराने जैसी होती भई ॥

प्रेम्णात्यन्तं सत्यवान् प्राह भार्यां
पश्येः कीदृङ् निर्मलं कं नदीषु ।
कीदृक् पुष्पाण्यत्र फुल्लानि शैले
सा सावित्री पत्युरास्ये स्वदृष्टिम् ॥४४॥

कृत्वा किञ्चिन्नाब्रवीन्नारदस्य
चित्ते कृत्योक्तिं पतिं स्वं मुमूर्षुम् ।
मत्वा मौनेनान्वगात् तं यतोऽस्या
नासीत् स्थाने संविदीर्णं हृदब्जम् ॥५५॥

अर्थ—बड़े प्रेम से सत्यवान् अपनी स्त्री से कहने लगा कि देख नदियों में कैसा निर्मल जल हैं और पर्वत पर कैसे फूल खिले हैं। वह सावित्री पति के मुख के ओर अपनी दृष्टि करके कुछ न बोली। नारद की बात को चित्त में करके अपने पति को मरा सा जान के बिना बोले चाले पीछे पीछे जाती थी क्योंकि इसका फटा हुआ हृदय कमल अपने स्थान पर नहीं था ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥३३॥



जनक उवाच—

सह पत्न्या सत्यवतः फलपुष्पाणि चिन्वतः ।
द्रुमशाखाः कुठारेण च्छिन्दतः स्वेद उद्गतः ॥१॥
अभूच्च शिरसः पीडा सोऽपगम्याब्रवीत् स्त्रियम् ।
वृक्षच्छेदात् पीड्यते मूर्धा हस्तौ पादौ स्फुटन्ति च ॥२॥
नान्तः स्वस्थोऽस्मि मन्मूर्धा छिद्रितास्तीति लक्षये ।
न स्थातुमधुना शक्तः शयितुं गाहते मनः ॥३॥

अर्थ—जनक राजा परशुरामजी से कहते हैं कि अपनी स्त्री के साथ सत्यवान् को फल और फूलों को चुनते हुए और कुल्हाड़ी से वृक्षों की डालें काटते हुए पसीना हो आया और सिर पिराने लगा। तब वह अपनी स्त्री के पास जाकर कहने लगा कि वृक्षों के काटने से मेरा माथा पिराता है हाथ पांव टूटते हैं। भीतर से स्वस्थ नहीं हूं मेरे सिर में छेद हुए हैं ऐसा ध्यान में आता है। अब मैं खड़ा नहीं रह सकता सोने को जी चाहता है॥

श्रुत्वैवमाशु सावित्री पतिं समवलम्ब्य च ।
उपवेश्यास्य मूर्धानं स्वाङ्के कृत्वा स्वशाययत् ॥४॥

अर्थ—ऐसा सुन के झट पट सावित्री ने पति को पकड़ के बैठा कर उसके सिर को अपनी पलथी पर करके अच्छी रीति से सुलाया॥

सा दीना नारदवचः स्मृत्वा कृत्वा दिनादिकम् ।
संख्याय तत्क्षणोऽपश्यत् पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥५॥

संरक्तनयनं रक्ताशुकं मुकुटधारिणम् ।
रविविक्त्विषं प्रतिभयं पाशहस्तं पुरःस्थितम् ॥६॥

अर्थ—वह बिचारी नारद की बात को मन में करके दिन घड़ी जोड़ के उसी क्षण में एक काले पीले पुरुष को देखती भई। जिसकी अत्यन्त लाल आंखें थीं, जो लाल वस्त्र और मुकुट पहिने हुए, सूर्य जैसे चमकता, भयङ्कर और पाश हाथ में लिये हुए आगे खड़ा था॥

स्थितः सत्यवतः पार्श्वे स मुहुस्तमुदैक्षत ।
तमालोक्य शिरः पत्युरपसार्य शनैरियम् ॥७॥
सावित्री साञ्जलि स्थित्वा कम्पन्ती वाक्यमब्रवीत्।
के भवन्तोऽत्र कोऽर्थो वः का चिकीर्षा वदुच्यताम्॥८॥
रूपतोऽनुमिनोमीपद्देवाः स्थेति न मानुषाः ।
यमः प्रोवाच सावित्रि ! त्वं कुलस्त्री पतिव्रता॥९॥
तपश्चरस्यविरतं ततो मद्दर्शनं तव ।
वदामि च त्वया नान्यन्नृभिर्विद्धि यमं हि माम् ।१०।
पत्युः सत्यवतस्तेऽद्य पूर्णमायुरमुं ततः ।
बध्वा पाशेन नेष्यामीत्येतत्दर्थं ममागमः॥११॥

अर्थ—यह सत्यवान् के पास खड़ा हुआ बराबर उसको देख रहा था यह सावित्री उसे देख के धीरे से पति का सिर सरका के खड़ी होकर हाथ जोड़ के कांपती हुई बात कहने लगी कि आप कौन हैं, यहां आपका क्या काम है, आप क्या

करना चाहते हैं सो कहिये। रूप से कुछ अनुमान करती हूं कि आप देवता हैं मनुष्य नहीं हैं। यमराज बोले कि हे सावित्री तू कुल को पालने वाली पतिव्रता है सदा तपस्या करती है उससे मेरा दर्शन तुझे हुआ और तुझसे बातें करता हूं और मनुष्यों से बात भी नहीं करता तू मुझे (यम) जान। तेरे पति सत्यवान् की आज उमर पूर्ण हुई उससे आज इसे फांसी से बांध कर लेजाऊंगा इसलिये मेरा आना हुआ है॥

सावित्र्योक्तं भवद्दूता भ्रमन्ति जगतीतले ।
स्वयमत्र कथं प्राप्ता इति मे छिन्त संशयम् ॥१२॥

अर्थ—सावित्री ने कहा कि आपके दूत पृथ्वी पर फिरते हैं यहां स्वयं आप कैसे आये इस मेरे संदेह को मिटाइये॥

तच्छ्रुत्वा स्याः प्रबोधार्थं क्रमशो हेतुमद्वचः ।
यम आह कुमारोऽयं धर्मात्मा सुन्दरो गुणी ॥१३॥
पतिव्रतास्य पत्नी च त्वद्विधेत्यहमागतः ।
मद्दूता अत एवैनं नेतुं न प्रभवः किल ॥१४॥

अर्थ—यह सुन के सावित्री को समझाने लिये व्यौरेवार कारण सहित वचन यमराज ने कहा कि यह कुमार सत्यवान् धर्मात्मा सुन्दर और गुणवान् है और इसकी स्त्री तुझ जैसी पतिव्रता है इसलिये मैं यहां आया हूं। निश्चय है कि इसी लिये मेरे दूत इसे लेजाने को समर्थ नहीं हैं॥

इत्युक्त्वा सत्यवद्देहाज्जीवमङ्गुष्ठसन्निभम् ।
यम आकृष्य पाशेन बध्वावाचीदिशं ययौ ॥१५॥

अर्थ—ऐसा कह के सत्यवान् के शरीर से अँगूठे के बराबर जीव को निकाल के फांसी से बांध के यमराज दक्षिण दिशा की ओर पधारे॥

जीवहीनं वपुः सत्यवतः परमसुन्दरम्।
अभून्मृदिव निस्तेजः सावित्री चान्वगाद्यमम् ॥१६॥

अर्थ—सत्यवान् का अत्यन्त सुन्दर शरीर जीवहीन होने पर मिट्टी जैसा विना तेज का होगया सावित्री भी यमराज के पीछे पीछे चली।

अनुयान्तीमिति प्राह दुःखेनाकुलितां यमः।
सावित्रि ! गच्छ स्वपतेरौर्ध्वदेहिकमाचर ॥१७॥
आयाता दूरमनृणा पत्युस्त्वमधुना व्रज।
सोचे परायणः स्त्रीणां पतिरेको न चापरः ॥१८॥
एवं पतिं व्रजेद्यत्र कोपि वा यत्र तं नयेत्।
मया तत्रैव गन्तव्यं यम ! निश्चय एषमे ॥१९॥
तथेज्यया श्वशुरयोस्तपसा पतिसेवया।
व्रतेन युष्मद्दयया गतिरोधो न मे क्वचित् ॥२०॥

अर्थ—दुःख से घबराई हुई सावित्री को अपने पीछे आती हुई देख के यमराज बोले कि हे सावित्री! लौट जाओ और अपने पति का क्रिया कर्म करो। तू बहुत दूर आगई अपने पति से उरिन हो चुकी अब जा। सावित्री बोली कि स्त्रियों को एक पति ही आश्रय है दूसरा नहीं। इस प्रकार से जहां पति जावे अथवा जहां कोई उसको लेजावे वहीं मुझे

जाना चाहिये है यमराज यह मेरा निश्चय है । वैसेही सास श्वशुर की पूजा से, तपस्या से, पति की सेवा से, व्रत से और आपकी दया से मुझे कहीं आने जाने की रोक टोंक नहीं है।

विदः साप्तपदं सख्यं जगुस्तदनुसारतः ।
भवन्तं वक्तुमिच्छामि यत्किंचिच्छ्रूयतां तु तत् ॥२१॥

अर्थ—विद्वान् लोगों का सात पग साथ चलने से स्नेह होता है, ऐसा कहते हैं । उसके अनुसार आपसे जो कुछ मैं कहना चाहती हूं उसे आप सुन लेवें।

वने गुरुकुले वासाद्गार्हस्थ्यात्यतिधर्मतः ।
अवशेन्द्रियचित्तानां न किंचित् फलमाप्यते ॥२२॥
तस्मात् स्वधर्मो न भवेत्कृत्वापि चतुराश्रमान् ।
असौ विलक्षणः श्रेष्ठतमो ज्ञानादवाप्यते ॥२३॥
चतुरो ह्याश्रमान् धृत्वा यत्फलं जायते तु तत् ।
सद्भिः पूर्वैर्यथा प्रोक्तं तदेकपथि गच्छतः ॥२४॥
द्वितीयादेस्तदा नेच्छा स्यात् स्वधर्मो वरस्ततः ।
श्रुत्वेति वाचः सावित्र्या धर्मराजोऽब्रवीदिदम् ॥२५॥

अर्थ—जिसके इन्द्रिय और चित्त अपने वश में नहीं उसको वन में वास करने से (वानप्रस्थ आश्रम से) (विद्या पढ़ने के लिये) गुरु के घर में रहने से (ब्रह्मचर्य आश्रम से), गृहस्थाश्रम से और सन्यासाश्रम के धर्म से कुछ भी फल नहीं प्राप्त होता। तस्मात् चारों आश्रम धारण करके भी स्वधर्म

नहीं हो सकता। यह स्वधर्म विलक्षण अर्थात् और ही कुछ है जो सब कुछ धर्मों से श्रेष्ठ है वह ज्ञान से (जानने से) प्राप्त होता है। चारो आश्रम धारण करके जो फल प्राप्त होता है वही फल प्राचीन सज्जन लोगों ने जैसा कहा है उस एक राह पर चलने से होता है। तब दूसरे तीसरे मार्ग की इच्छा भी नहीं होती तस्मात् स्वधर्म श्रेष्ठ है। सावित्री की ऐसी वाणी सुनके धर्मराज यह बोले।

श्रुत्वा त्वदुक्तं सावित्रि ! प्रसन्नोऽस्मि भृशं त्वयि।
याह्यस्य जीवनं मुक्त्वान्यद्ददामि यदिच्छसि ॥२६॥

अर्थ-हे सावित्री। तेरा वचन सुनके तुझपर मैं बहुत प्रसन्न हूं तू हौट जा इसका जीना छोड़ के दूसरा जो चाहती है सो देता हूं॥

सा चाह कियतः कालादन्धता श्वशुरस्य मे।
तपश्चरन्ति ते कुर्य्यां तन्नेद्भवदनुग्रहः ॥२७॥
नीरुजत्वं तदक्ष्णोः स्यादिति याचे वरं यम।
यमोप्याह तथैवास्तु श्रान्तास्येह्यधुना गृहम् ॥२८॥
त्वं कारयिष्यसि सति व्यथां किमिति पादयोः।
साविच्याहान्तिके पत्युः श्रान्ता स्यां जात्वहं कथम्॥२९॥
सा मे स्याद्या गति स्तेषां यास्ये नयथ यत्र तान्।
वच्मि तच्छ्रूयतां श्रेष्ठमेकदा दर्शनं सताम् ॥३०॥
नापार्थं फलदं स्नेहाद्व्यवहारात् तदा किमु।
सर्वथा सर्वदा तस्मात् सत्सङ्ग उचितो नृणाम् ॥३१॥

अर्थ—सावित्री ने भी कहा कि कुछ काल से मेरे ससुर अन्धे हो गए हैं वे कुटी में तपस्या करते हैं। सो आप की दया हो तो उनके आंखों का रोग मिट जावे। हे। यमराज यह वर मैं मांगती हूं। यमराज ने कहा वैसा ही होगा, तू थक गई है अब घर जा। हे सती! तू अपने पावों को क्यों पिरवाती है। सावित्री ने कहा कि पति के पास मैं कभी कैसे थक सकती हूं। जो उनकी गति है वह मेरी हो उन को आप जहां ले जाते हैं वहां मैं भी जाऊंगी। जो कहती हूं सो सुनिये। सज्जनों का एकबार का दर्शन श्रेष्ठ है व्यर्थ नहीं है फल देने वाला है तब उनके स्नेह और व्यवहार से क्या होगा (सो नहीं कह सकती)। इसलिये मनुष्यों को सर्वथा सदा सत्सङ्ग करना उचित है।

यमः प्रोवाच ते वार्ताः सावित्र्येवं मनोहराः।
चातुर्यं शिक्ष्यते याभ्यां जनैस्तु निपुणैरपि ॥३२॥
विहाय जीवनं सत्यवतोऽन्योऽपि पुनर्वरः।
याच्यतां तमहं दास्य सावित्री चा ब्रवीत् तदा॥३३
श्वशुरो मेहृतं राज्यममित्रैर्लभतां पुनः।
जातु धर्माच्च्युतो मा भूदिति श्रुत्वाब्रवीद्यमः ३४॥
लब्धा ते श्वशुरो राज्यं च्युतो मा भूच्च धर्मतः।
पूर्णं ते हृद्गतं याहीदानीं दुःखं सहस्व मा ॥२५॥

अर्थ—यम बोले कि हे सावित्री। तेरी बातें ऐसी मन भावनी है कि जिनसे चतुर लोग चतुराई सीखते हैं। सो

सत्यवान् का जीना छोड़ के दूसरा भी वर फिर मांग उसे भी देऊंगा। तब सावित्री भी बोली कि शत्रुओं करके हरण किया हुआ राज्य मेरे श्वशुर फिर पावें। और वे धर्म से कभी न डिगें। यह सुनके यमराज बोले कि तेरा ससुर राज्य को पावेगा और धर्म से भी न डिगेगा। तेरे मन की बात पूरी हुई अब का दुःख मत सह।

सावित्री प्राह भवता वद्धं स्वनियमैर्जगत् ।
तैश्च सर्वान् निगृह्णासि यम इत्युच्यसे ततः ॥३६॥
नेच्छन्त्यनिष्टं जीवस्य कस्यापि मनसापि च ।
क्वानुष्ठानं क्व कथनं दयन्ते प्राणिनोऽखिलान्॥३७॥
ददत्यपि यथायोग्यं सतां धर्मोऽयमीरितः ।
जगन्मत्पतिवत् सर्वं भक्तिचातुर्यवर्जितम ॥३८॥
समुद्धरन्ति विषमात् सन्तः संसारसागरात् ।
शरणं समवाप्तेषु वैरिष्वपि दया सताम् ॥३९॥

अर्थ—सावित्री बोली कि आपने अपने नियमों से संपूर्ण जगत् को बांध रक्खा है उन्हीं नियमों से आप सभों को पकड़ते हैं इसीसे यम कहाते हैं। सज्जन लोगों का यह धर्म कहा है कि किसी जीवजन्तु का मन से भी बुरा नहीं चाहते फिर करना और कहना कहां रहा। सब प्राणियों पर दया करते हैं और जो जिसके योग्य है वह उसे देते भी हैं। मेरे पति की नाईं संपूर्ण जगत् है उनमें न भक्ति है और न चतुराई है। ऐसे जगत् को सज्जन लोक कठिन संसार रूपी समुद्र से

उद्धार करते हैं। शरण आये हुए शत्रुओं पर भी सज्जन लोग दया करते हैं॥

यमः प्रोवाच ते वार्तास्तर्पयन्ति मनो मम।
तृषितस्य यथा नीरमिदानीं यत्तवेप्सितम्॥४०॥
तत् पुनर्वाच्यतां सत्यवतस्त्यक्त्वा तु जीवनम्।
सावित्री प्राह सन्तानं मदन्यं नास्ति मे पितुः॥४१॥
भवन्त्वतः शतं पुत्रा वंशो वर्धेत येन च।
यमः प्रोवाच सावित्रि पितुस्ते स्युः शतं सुताः॥४२॥
येन वंशो विवर्धेत पूर्णास्तव मनोरथाः।
इदानीमपि तद्याहि बहुदूरं समागता॥४३॥

अर्थ—यमराज ने कहा कि तेरी बातें मेरे मन को ऐसी तृप्त करती हैं जैसे प्यासे को पानी। हे सावित्री! सत्यवान् के जीवन छोड़ के जो तुझे इष्ट हो वह मांग। सावित्री ने कहा कि मेरे पिता को मुझे छोड़ और कोई सन्तान नहीं है इस लिये इन्हें सौ पुत्र हों जिससे वंश बढे। यम बोले कि हे सावित्री! तेरे पिता को सौ पुत्र हों जिससे वंश बढे अब भी तेरे मनोरथ पूरे हुए सो लौट जा बहुत दूर आ गई है॥

सावित्र्याहान्तिके पत्युर्मम मार्गस्य दूरता।
न ज्ञायते मन्मनस्तु पुनरग्रे प्रधावति॥४४॥
वच्मि किंचिद्व्रजन्त्येव शृण्वन् यातु भवानपि।
भवान् विवस्वतोऽर्कस्य तनयोऽतिप्रतापवान्॥४५

अतो वैवस्वत इति भवन्तं तु जना जगुः ।
लोकान् धर्मे नियुङ्क्तेऽतो धर्मराजोऽपि नामतः ॥४६॥
यावान् भवति विश्वासः सत्सु तावान्न चात्मनि ।
अत एव सतां लोकैराश्रयोऽन्विष्यते परः ॥४७॥
यदा सम्यक् स्वभावः स्याद्विश्वासो जायते तदा ।
स्वभावशोधनार्थं च सतां स्नेहोऽर्थ्यते जनैः ॥४८॥

अर्थ—सावित्री ने कहा कि पति के पास मुझे राह की दूरी नहीं जान पड़ती। मेरा चित्त तो आगे दौड़ता है। मैं कुछ चलती हुई कहती हूं आप सुनते चलें। आप विवस्वान् सूर्य के प्रतापी पुत्र हैं इसलिये लोक आप को वैवस्वत ऐसा, कहते हैं। आप लोगोंको धर्म में चलाते हैं इसलिये आपका नाम धर्मराज है। जितना विश्वास सज्जनों पर होता है इतना किसी का अपने पर भी नहीं होता इसीलिये लोग सज्जनों का उत्तम सहारा ढूंढते हैं। जब स्वभाव अच्छा होता है तब विश्वास भी होता है तो स्वभाव सुधारने के लिये लोग सज्जनों से स्नेह करना चाहते हैं॥

श्रुत्वैवेरर्थं यमः प्राह वचो यद्यत् प्रभाषसे ।
मयाद्ययावत् कस्यापि मुखतो न श्रुतं तु तत् ॥४९॥
त्वद्वार्तया प्रसन्नोऽस्मि यद्यदिच्छसि तद्वृणु ।
विहाय जीवनं सत्यवतः पश्चाद् गृहं व्रज ॥५०॥

अर्थ—ऐसा सुनते ही यमराज ने कहा कि जो तू बात करती है सो मैंने आज तक किसी के मुंह से नहीं सुनी। तेरी

बात से मैं प्रसन्न हूं सो सत्यवान् के जीवन को छोड़ के जो २
चाहे सो मांग ले और पीछे घर चली जा।

सावित्र्योक्तं शतं वीराः सन्तु मे बलिनः सुताः।
तद्वार्तामूढचेतस्को यमश्चाह तथास्तु तत् ॥५१॥
श्रान्तासि दूरयानात् त्वमधुना स्वं गृहं व्रज।
सावित्र्याह सतां रीतिः सदा धर्मपथानुगा ॥५२॥
नापार्थः स्यात् सतां स्नेहः सद्भ्यो नास्ति भयं क्वचित्।
सत्येन खे सतां राज्यं तपसा ते धराधराः ॥५३॥
कालत्रये यद्भवति सन्ति सन्तस्तदाश्रयाः।
सत्सङ्गाज्जातु नो दुःखं सदैवोपकृतौ रताः ॥५४॥
सन्तः प्रत्यपकारं तु कुर्वन्ति मनसापि न।
उपकारः कृतः सत्सु नापार्थो जातु जायते ॥५५॥
क्वापि हानिर्नोपकर्तुरित्थं रीतिः सदा सताम्।
जगद्रक्षन्ति विपदः सन्तोऽनेनैव हेतुना ॥५६॥

अर्थ—सावित्री ने कहा कि मुझे वीर और बलवान् सौ पुत्र हों। सावित्री की बात में मोहित होके यमराज ने भी (बिना सोचे ही) कहा कि वैसा ही होगा। तू दूर आने से थक गई है अब अपने घर जा। सावित्री ने कहा कि सज्जनों की रीति सदा धर्म की राह पर होती है। सज्जनों का स्नेह कभी अकारण नहीं जाता। सज्जनों से कभी भय नहीं हो सकता। सत्यपने से सज्जनों का राज्य आकाश में होता है वे

लोग तपस्या के बल से धरती को सँभाले हुए हैं। जो बीत गया, जो हो रहा है, और जो होने वाला है सब सज्जनों ही के आसरे है। सज्जनों के सङ्ग से कभी दुःख नहीं होता। सज्जन लोग सदा ही लोगों के उपकार में रहते हैं। किसी के नीचकर्म का बदला मन से भी नहीं सोचते। सज्जनों पर उपकार करो तो वह कभी वृथा नहीं जाता। उपकार करने वाले की हानि नहीं है। सज्जनों की सदा ऐसी रीति है। इसी कारण से सज्जन लोग संसार को विपत्ति से बचाते हैं॥

यमः प्राह वचो धर्म्यं वरासित्वं यथायथा ।
तथातथा हरसि मे मनस्तस्माद्याद्दिच्छसि ॥५७॥
सत्यवज्जीवनं मुक्त्वा वृणु सर्वं ददाम्यहम् ।
ततः पतिव्रते याहि स्वगृहं कुरु मा चिरम् ॥५८॥

अर्थ—यमराज ने कहा जैसे जैसे धर्म की बात तू करती है वैसे वैसे मेरे मन को हरती जाती है इसलिये सत्यवान् के जीवन को छोड़ के जो चाहती है सो मांग मैं तुझे सब देता हूं पीछे हे पतिव्रता सावित्री! अपने घर जा देर मत कर॥

ततो विहस्य सावित्री प्रोवाचेदं यमं वचः ।
दत्ता मम शतं पुत्रा भगवन् भवता पुरा ॥५९॥
तत् कथं पतिहीनायां घटेत मयि तद्वचः ।
स्वयमेव विचार्यातस्तन्मे देह्युचितं यथा ॥६०॥
पातिव्रत्ये स्थितायाा मे पतिरेव परायणम् ।
तं विना तु मृतेवास्मि नैवेच्छामि धनं सुखम् ॥६१॥

नापि वैकुण्ठसंवासं नो जीवामि खलु श्रिये ।
याचेऽतः सत्यवाक् त्वं स्या वन्ध मुक्तोऽस्तु मे पतिः॥६२

अर्थ—उस पीछे सावित्री हँस के यह वचन बोली कि हे भगवान् पहिले आपने मुझे सौ पुत्र दिये सो वह वचन पति करके हीन मुझमें कैसे घटेगा। इसलिये आप ही विचार के जैसा उचित हो वह मुझे दो। मैं पतिव्रताधर्म में स्थित हूं. पति ही मेरे लिये आश्रय है। उनके बिना मैं मरी जैसी हूं। उनके बिना धन सुख, तथा वैकुण्ठ में रहना भी नहीं चाहती उनके बिना मैं नहीं जीऊंगी मर जाऊंगी। इसलिये मैं मांगती हूं कि आप का वचन सत्य हो। और मेरे पति आपके बन्धन से छूट जावें॥

इति श्रुत्वा धर्मराजोऽप्यासीच्चकितवत् तदा ।
मुक्त्वा प्रसन्नस्तत्पाशं सावित्रीमब्रवीदिदम् ॥६३॥

अर्थ—ऐसा सुन के उस समय धर्मराज भी चकित हो गए। प्रसन्न हो कर सत्यवान् की फांसी को खोल के सावित्री से यह बोले॥ •

त्वया धर्मेण बद्धोऽस्मि तद्दास्यति दुर्लभम् ।
पतिर्बद्धोऽपि मुक्तस्ते त्वया सह चतुःशतम् ॥
वर्षाणि स्यात् स नीरोगः स्तो वां पूर्णा मनोरथाः।
यशस्विनो पुत्रशतं भाविभूपं सुतैर्वृतम् ॥६५॥
प्रासुतं ते पितुः पुत्रशतं स्यान्मालवाभिधम् ।
पुत्रैः पौत्रैर्वृतं देवानिव तेजोधरं परम् ॥६६॥

श्वशुरस्ते सुनयनो भूत्वा राज्यमकण्टकम् ।
प्राप्नातु ते कथा चेयं भूयात् त्रैलोक्यपावनी ।६७।
गच्छ सावित्रि भद्रं तइत्युक्त्वान्तर्दधे यमः ।
सावित्र्यपि गता तत्र पत्युर्यत्राभवद्वपुः ॥६८॥

अर्थ—हे सावित्री ! तूने मुझे धर्म से बांध लिया सो मैं तुझे वह देता हूं जो अत्यन्त दुर्लभ है। ले बांधे हुए तेरे पति को छोड़ दिया। वह तेरे सहित चार सो वर्ष भला चङ्गा रहेगा। तुम दोनों के मनोरथ पूरे होंगे। तुम दोनों का जगत् में यश होगा। तुम को सो पुत्र होंगे वे सब राजा होंगे उन को भी सन्तान होंगे। तेरे पिता को भी सो पुत्र होंगे वे मालव कहलावेंगे। वे भी बेटे पोते सहित और देवताओं के जैसे तेजधारी होंगे। तेरे ससुर की आंखें अच्छी हो जायँगी और वह निष्कण्टक राज्य पावेगा। और यह तेरी कथा भी त्रैलोक्य को पवित्र करने हारी होगी। हे सावित्री ! तू जा तेरा भला होगा ऐसा कहके यमराज अन्तर्ध्यान हो गए। सावित्री भी वहां गई जहां पति (सत्यवान्) का शरीर था॥

तत्र गत्वोपविश्याङ्के कृत्वा पत्युः शिरः स्थिता ।
नेत्रे जाग्रदिवोन्मील्य कालेऽस्मिन्नेव सत्यवान् ॥६९॥
स्नेहदृष्ट्येक्षत मुहुः परदेशागतो यथा ।
अब्रवीदपि सावित्रीं शयितोऽस्म्यतिकालतः ॥७०॥
निशाप्यासीज्जागरितः शीघ्रं किमिति न त्वया ।
स श्यामः पुरुषः क्वास्ति कर्षन् मामनयत्तु यः॥७१॥

अर्थ—वहां जाकर बैठ कर पलथी पर पति का सिर रख के स्थित भई। इसी समय जाग उठे के समान सत्यवान् आंखें खोल के बार बार स्नेह दृष्टि से देखने लगा जैसे कोई परदेश से आया हो। फिर सावित्री से बोला भी कि मैं बहुत देर से सो रहा हूं रात भी हो गई तूने मुझे शीघ्र ही क्यों नहीं जगाया। वह सांवला पुरुष कहां है जो मुझे खींच कर ले जाता था॥

सावित्र्याहचिरं सुप्तो मदङ्के जागृतोऽधुना।
शक्तोऽपि चेत् त्वमुत्थाय पश्यास्यैदलिशर्वरी ॥७२॥

अर्थ—सावित्री ने कहा देर से मेरी पलथी पर सोये थे अब जागे हो। होसके तो उठ के देखो कि बहुत रात बीत गई॥

श्रुत्वेति संभ्रमाच्चिर
सुखशयितवदेक्षतोत्थितः स वनम्।
आहच सह त्वयाहं
फलानि पुष्पाणि चेतुमायातः ॥७३॥
समिधश्छिन्दन् शिरसः पीडा वर्धमानासीत्।
स्थातुं तया न शक्तस्त्वदङ्कआगत्य शयितोऽतः ७४
महतीमे निद्रासीदेतावद्वेद्मि नान्यदिह।
स्वप्नेऽपश्यं परितस्तमो वृनं तेजसा साग्निम् ॥७५॥
कमपि च सह त्वया यः
संभाष्य चिरं यथागतं यातः।

कोऽसाविति सत्यमुत
स्वप्नः शक्तोपि वक्तुमिदम् ॥७६॥

अर्थ—यह सुन के सत्यवान् चहुंका और बड़ी देर से सुख नींद सोये हुए की नाईं उठ कर उसने वन को देखा और बोला भी कि मैं तेरे साथ फलफूल चुनने के लिये आया था। फिर समिधा काटते हुए सिर की पीर बढ़ती ही गई उससे मैं खड़ा नहीं रह सका इससे आकर तेरी पलथी पर सो रहा मुझे बड़ी नींद आई इतना मैं जानता हूं और यहां कुछ नहीं जानता। फिर सुपने में देखा कि चारों ओर अंधेरा हो रहा है उसमें बड़ा तेजस्वी कोई था जो तेरे साथ देर तक बातचीत करके जैसे आया था वैसे गया। यह कौन था और यह सत्य है या सुपना है यह बात तू कह सकती है॥

सावित्र्योहेदानीं रात्रिर्वोभूयते च वक्ष्ये श्वः।
याव च संगच्छाव श्वशुराभ्यां झटिति सूर्यास्तात् ७७
अतिकालोऽत्यैद्रात्रिर्विवर्धिपुर्जन्तवो रात्रेः।
विसृजन्तो रौद्रगिरो भ्रमन्ति चेतस्ततो भयदाः ७८

अर्थ—सावित्री बोली कि रात हो रही है कल कहूंगी। चलो सासू जी और ससुर जी से चट मिलें सूर्यास्त होकर बड़ी देर हुई रात बढ़ने ही चाहती है। रात के जानवर डरावने बोल बोलते हुए इधर उधर घूम रहे हैं जो भय को देते हैं॥

कुगोपु च धावत्सु श्रूयते मर्मरध्वनिः।
दक्षिणस्यां पश्चिमायां शृगाल्योऽपि रुदन्तिहि ॥७९

आकर्ण्याकर्ण्य यच्छ्वश्वद्धृदयं कम्पते मम ।
सत्यवानाह सावित्रीं वनं रौद्रं तमोवृतम् ॥८०॥
कथं वेत्स्यसि पन्थानं व्रजिष्यसि कथं वद ।
सावित्र्युवाच तत् पश्य विपिने ज्वलतोन्धनम् ८१॥
एषांसोतस्ततो भूरीण्यग्निर्ज्वलति कर्हिचित् ।
मा शोचस्वाग्निमानीय ज्वालयामीध्मसंहतिम् ।८२।
नाप्येत ते वने पन्था अस्वस्थस्य तमोवृते ।
मातर्व्रजाव चेदिष्टमत्रैव व्युष्य शर्वरीम् ॥८३॥

अर्थ—हिरन दौड़ने से पत्तों का मर्मर शब्द सुनाई देता है। स्यारियां दक्षिण और पश्चिम के ओर रो रही हैं जिसे सुन सुन के मेरा कलेजा वार वार कांपता है। सत्यवान् ने सावित्री से कहा कि वन भयानक है अंधियारा छा रहा है। तुम राहें कैसे जानोगी और कैसे चलोगी सो कहो। सावित्री ने कहा कि यह देखो जङ्गल में लकड़ी जल रही है। इधर उधर लकड़ी भी बहुत हैं अग्नि भी कहीं कहीं जलती है तुम सोच मत करो मैं अग्नि लाके बहुत सी लकड़ी जलाती हूं, तुम्हारा जी अच्छा नहीं है अंधेरे वन में तुमको राह न मिलेगी सो तुम चाहो तो आज रात यहां ही रह के कल सबेरे चलेंगे॥

मन्पयानत्रर्वान्मृगाः पीडा मे करपादयोः ।
शान्तेदानीं स्वपितरौ द्रष्टुमुत्कण्ठते मनः ॥८४॥

अर्थ—सत्यवान् बोले कि मेरे सिर की पीर जाती रही। हाथ पैर भी अब नहीं दूखते अब यही मन में आता है कि (चल कर) मा बाप को देखूं॥

जातु कुट्या वहिर्नैयान्न कालो नीतो मया क्वचित्।
माता नेच्छद्वहिर्यानं सूर्यास्तादुत्तरं मम ॥८५॥
वहिर्दिवापि यातोऽहं पितरौ व्याकुलौ तदा।
अभूतामवजिष्टां मामन्वेष्टुं मुनिभिः सह ॥८६॥
मुहुः पितृभ्यां दुःखिभ्यामुक्तश्चिरयसे इति।
वक्तुं शक्नोमि नेदानीं मदर्थं का दशानयोः ॥८७॥

अर्थ—मैंने भी कुटी के बाहर कहीं इतनी देर कभी नहीं लगाई। मां भी सांझ से मेरा बाहर जाना नहीं चाहती थी। जब दिन को भी मैं बाहर गया तो मेरे मा बाप घबराते रहे और तपस्वियों के साथ मुझे ढूंढने जाते थे। कईबार मा बापने दुखी हो कर मुझ से कहा है कि तू देर लगाता है। अब नहीं कह सकता हूं कि मेरे लिये उनकी क्या दशा हुई होगी॥

अपश्यतोर्मां पित्रोर्मे स्यान्महद्दुःखमेकदा।
विमुच्याश्रूणि दुखेन तौ वृद्धौ मामवोचताम्॥८८॥
तात क्षणं न जीवेव त्वां विना त्वयि जीवति।
जीवावोऽन्यस्म नेत्रं त्वं नाम पिण्डस्त्वयैव वाम ८९॥

अर्थ—मुझे बिना देखे मेरे मा बाप को बड़ा दुख हुआ होगा एकबार आंखों से आंसू बहाके दुखी होकर वे बूढ़े मुझसे

कहने लगे कि हे बेटा तेरे बिना हम छिन भर नहीं जी सकते, तुम जीते रहते हम जीते हैं, अन्धे की आंख तुम्ही हो, हमारा नाम और चिन्ह तुम्ही से है ॥

पुत्रोऽस्मि वृद्धपित्रोस्तौ न दृष्ट्वा निशि मां दशाम् ।
न जाने कां प्रपत्स्येते निद्रां वच्मि किमात्मनः ॥९०॥
दुर्भाग्योऽस्मि यदर्थं मे पितरौ संकटं गतौ ।
एवं विपत्तिमग्नोहं जीवेयं तौ विना कथम् ॥९१॥

अर्थ—मैं बूढ़े मा बाप का लड़का हूं वे रातको मुझे न देखकर न जाने किस दशा को प्राप्त हुए होंगे । मैं अभागी हूं अपनी नींद से क्या कहूं जिसके कारन मेरे मा बाप संकट में पड़े । ऐसी विपत्ति में डूबा हुआ मैं उनके बिना कैसे जीऊंगा ॥

पृच्छेयुरन्धाः पितरः प्रत्येकं तु तपस्विनः ।
शोचामि वृद्धपितरं दुर्बलां मातरं यथा ॥९२॥
तथात्मनः कृते नैव मदर्थाकुलता तयोः ।
तेषु जीवत्सु जीवामि खानपानादिकं तयोः ९३॥
ममैव कार्यं येनैतौ सुखिनौ स्तः करोमि तत् ।
धर्मात्मा सुत इत्युक्त्वा स्नेहेनोच्चै रुरोद च ॥९४॥

अर्थ—मेरे अन्धेपिता एक एक तपस्वियों से पूछते होंगे । मैं बूढ़े पिता और दुर्बल मां का जैसे शोच करता हूं ऐसा अपने लिये नहीं करता । मेरे लिये उन्हें घबराहट है वे जीते रहते मैं जीता हूं । उनका खिलाना पिलाना मेरा ही काम है ।

जिमसे वे सुखी हों वही काम करता हूं धर्मात्मा पुत्र (सत्यवान्) ऐसा कहके स्नेह से धाड़ मार कर रोने लगा॥

दृष्ट्वा पत्युर्दुःखं सावित्र्यश्रूणि तस्य संमार्ज्य ।
ऊचे तपः कृतं यद्दानं होमश्च तेन मेश्वशुरः ॥९५॥
श्वश्रूः पतिश्च कुशलं लभतामस्यां निशीथिन्याम् ।
सत्यं व्रतं च यदि मे तेन श्वशुरौ पतिश्च जीवन्तु ।९६।

अर्थ—पति का दुःख देख के सावित्री उसके आंसू पोंछ के बोली। जो मैं तपस्या दान वा होम किया हो उससे मेरे सासू ससुर और पति इस रात में कुशल से रहैं। और जो मेरा व्रत सत्य है तो उससे सासू ससुर और पति जीवैं॥

सत्यवानाह पितरौ द्रष्टु मिच्छामि मा चिरम् ।
प्रियेऽनिष्टं पितुश्चेन्न जीवामीत्यात्मना शपे ॥९७॥
स्याद्धर्मोऽहं च जीवेयं हृद्गतं मे भवत्विति ।
यदीच्छसि वरारोहे व्रजावाशु कुटीं प्रति ॥९८॥

अर्थ—सत्यवान् ने कहा कि मां बाप को देखने चाहता हूं देर न करो। हे प्यारी! मैं अपनी सौगन्द खाके कहता हूं कि जोकुछ पिता का बुरा होगा तो मैं न जीऊंगा। हे प्यारी! जो तू चाहती है कि धर्म हो, मैं जीऊं और मेरे मन की बात हो तो चाहिये कि शीघ्र कुटी को चलैं॥

इति श्रुत्वैव सावित्री सहसोत्थाय कुन्तलान् ।

अर्थ—ऐसे सुनते ही सावित्री ने चट उठ के हाथों से बाल सँभाल के अपने पति को उठा कर बैठा दिया॥

सत्यवान् स्वकरौ पादौ यावत् संमाज्य पश्यति ।
दृक् स्यूते पतिता तावत् सावित्र्याहास्त्विहैव तत्॥१००॥
श्वो नयिष्ये सहायास्तु कुठारास्तिमिरे निशि ।
एतावदुक्त्वा सावित्री शाखायां शाखिनो दृढम् ॥१०१॥
बध्वावालम्बयत् स्यूतं गृहीत्वाशु कुठारकम् ।
पत्युः सकाशमागत्य गृहं यातुमियेष च ॥१०२॥

अर्थ—सत्यवान् अपने हाथ पैर झाड़ के जो देखता है तो उसकी दृष्टि थैली पर पड़ी। सावित्री ने कहा कि यह यहीं रहे कल ले जायँगे। रात को अँधियारे में आज कुल्हाड़ी साथ रहे। इतना कहके सावित्री ने थैली को वृक्ष की शाखा में दृढ़ बांध के थैली लटका दी। चट कुल्हाड़ी को लेके सत्यवान् के पास आकर घर चलने को चाहा॥

निधाय वामस्कन्धे स्वे वामदोः पत्युरेतया ।
पतिं दक्षिणहस्तेन समालम्ब्य शनैर्ययौ ॥१०३॥

अर्थ—वह सावित्री पति का बायां हाथ अपने बायें कन्धे पर रख कर पति को दाहिने हाथ से सँभाल के धीरे धीरे चली॥

सत्यवानब्रवीदथ नित्यमाया-
म्यतोऽखिलान् ।

पन्थानो वेद्मि वृक्षान्तः पश्यामि
ज्योत्स्नयाखिलम् ॥१०४॥
तस्मिन्न पथ्यधुना यातौ यत्र प्रातः फलेग्रही ।
प्रत्यायातौ तु तेनैव पथा मास्त्विह संशयः ॥१०५॥

अर्थ—सत्यवान् बोला कि यहां मैं नित्य आता हूं इसलिये सब राहें जानता हूं और वृक्षों के बीच में चांदनी से सब देखता हूं। उस राह पर अब आये हैं जहां सवेरे फल ले रहे थे। अपने उसी राह से लौट चले हैं जिस राह से पहिले आये थे इसमें दुविधा न करो॥

यायावोत्तरतश्च किंशुकवनासन्ने हि मार्गद्वये
चेतश्चारुगिहाधुना स्वबलतो यातुं च शक्नोम्यहम् ।
गच्छेवाशु ममाग्रगामि पितरौ द्रष्टुं मनो व्याकुलं
प्रोच्येवं प्रमदादमू प्रययतुः स्वीयोटजस्यान्तिकम् १०६

अर्थ—अपने ढाक के वन के पास जो दुराहा है उसकी उत्तर से जा रहे हैं। अब मेरा जी भी (अरोग) अच्छा है मैं अपने बल से चल भी सकता हूं। अपने शीघ्र चलें मेरा आगे चलने वाला मन मां बाप के देखने को घबरा रहा है ऐसा कहके ये दोनों बड़े हर्ष से अपनी कुटी के पास आते भये॥

ॐइति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां त्रिंशः सर्गः ३०

जनकउवाच—

यमस्य वरदानेन द्युमत्सेनोऽन्धतां जहौ ।
ददर्श रात्रिं चातीतां नागतः सत्यवानिति ॥ १॥
सहराज्ञ्या शोकाकुलेन समन्विष्टाः कुटीःकुटीः ।
कुटीः सरांसि च नदीर्मार्गयामास चाटवीः ॥२॥

अर्थ—जनक राजा परशुराम जी से कहते हैं कि इधर यमराज के वरदान से द्युमत्सेन राजा की आंखें खुल गईं (अच्छी हो गईं) उसने देखा कि रात बीत गई है और सत्यवान् आया नहीं। फिर घबरा के रानी के साथ कुटी २ ढूंढी। और कुटी सरोवर नदी और बन भी वे दोनों ढूंढते भये ॥

श्रुते वचसि कस्यापि संभ्रमादाह चाकुलः ।
एष वध्वा सहायाति सत्यवानिति संज्ञया ॥३॥
क्षतानि पादयोरासंस्तयोस्तमसि धावतोः ।
शरीरं कराटकैर्भिन्नं ततो रक्तमसुस्रुवत् ॥४॥

अर्थ—किसी की बोली सुनने पर घबड़ा कर संभ्रम से अङ्गुली दिखा कर कहता था कि यह सत्यवान् आता है। (रात को) अंधेरे में दौड़ते हुए उनके पावों में छाले पड़ गए शरीर कांटों से भिन गया उससे लोहू बहने लगा ॥

सुतार्थं दंपती चेत्थमुन्मत्तवदितस्ततः ।
वने बभ्रमतू राज्ञौ दृष्ट्वाऽधावंस्तपस्विनः ॥५॥
पर्येत्य सांत्वयित्वा च कुटीं प्रावेशयंश्छनैः ।
वृद्धाश्च श्रावयामासुरितिहासान् पुरातनान् ॥६॥

ददृशैर्य परन्त्वेतौ स्ववध्वात्मजयोर्गुणान् ।
शैशवं कर्म संस्मृत्याकुलौ रुरुदतुर्मुहुः ॥७॥

अर्थ—वे दोनों स्त्री पुरुष के लिये पागल की नाईं रात को जङ्गल में फिर रहे थे। इनको देख के तपस्वी लोग दौड़े। इनको घेर के समझा के धीरे २ कुटी में ले गए। बूढ़े तपस्वियों ने पुराने इतिहास सुनिये, धीरज दिया परन्तु ये दोनों बहू बेटे के गुणों को तथा लड़कपन के कामों को सुमिर सुमिर के घबड़ाये हुए बार बार रोते थे॥

हा! पुत्र हा! वधु वत्स्यः क्व गताविति जल्पतुः ।
द्रष्टुं न शेकुर्दर्शं तयोर्दुःखं तपस्विनः ॥८॥

अर्थ—हे बेटा! हे बहू! तुम कहां हो? कहां गए? ऐसा बड़बड़ाने लगे। तपस्वी लोग देखने के अयोग्य उनका दुःख देख न सके॥

एको द्विजस्ततो प्राह राजन् वध्वास्तपो व्रतम् ।
विचार्य नियमं वच्मि सत्यं जीवति सत्यवान् ॥९॥

अर्थ—तब एक ब्राह्मण बोला कि हे राजा! तुम्हारे बहू के तप व्रत और नियमों को विचार के कहता हूं कि सत्यवान् जीता है यह सत्य है॥

प्राहैको गौतमोऽन्योऽपि मया स्वाचरितं तपः ।
श्रुतीरङ्गानि चाधीत्य ब्रह्मचर्यादविह्नुतः ॥१०॥
संसेव्य च गुरूनग्निं हुत्वा कृत्वा व्रतानिच ।
कुशली सत्यवान्सत्यमिति जानामि दिव्यदृक् ॥११॥

अर्थ—एक दूसरा गौतम नाम तपस्वी भी बोला कि मैंने उत्तम रीति से तपस्या की है वेद वेदाङ्ग पढ़ के ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट नहीं हुआ गुरु की सेवा करके अग्नि में होम करके और व्रतों को करके दिव्य दृष्टि से जानता हूं कि सत्य ही सत्यवान् कुशल है ॥

तच्छिष्योऽथाब्रवीद्राजन् न व्यस्येद् गुरुभाषितम् ।
मा भूः सत्यवतोऽर्थे त्वंव्याकुलः स तु जीवति ॥१२॥

अर्थ—इस पीछे गौतम का शिष्य बोला कि हे राजा ! गुरुजी का कहना पलटेगा नहीं। सत्यवान् के लिये तुम मत घबड़ाओ वह जीता है ॥

भरद्वाज इदं प्राहाकुलः किं सत्यवत्कृते ।
वैधव्ययोगो नास्त्येव सावित्र्या मास्तु ते,भ्रमः ॥१३॥

अर्थ—भरद्वाज ने यह कहा कि सत्यवान् के लिये क्यों घबड़ाते हो। सावित्री को विधवा होने का योग ही नहीं तुम भ्रम मत करो ॥

दाल्भ्यः प्राह यथा दृष्टेर्नैर्मल्यं ते यथा व्रतम् ।
वध्वा निर्वोढमेवं हि कुशल्येष्यति सत्यवान् ॥१४॥

अर्थ—दाल्भ्य ने कहा कि जैसी तुम्हारी आंखें अच्छी हो गईं जैसे तुम्हारी बहू सावित्री ने अपना व्रत निभा दिया ऐसे ही सत्यवान् कुशल से आवेगा ॥

एवं वदत्सु मुनिषु राजानो बोधयत्सु च ।
पत्या सहैव सावित्री स्वाश्रमं प्राविशन्मुदा ॥ १५॥

अर्थ—ऐसे मुनि लोग बोल रहे हैं और राजा रानी को समझा रहे हैं इतने में सावित्री ने अपने पति के साथ ही अपनी कुटी में आनन्द से प्रवेश किया ॥

तौ दृष्ट्वा ब्राह्मणैरुक्तो नृपस्त्वं श्रेयसैधसे ।
स्वस्वक्षणा पश्यसि वधूपुत्रौ सत्यं वचो हि नः ॥१६॥

अर्थ—उनको देख के ब्राह्मणों ने राजा से कहा कि आपकी बधाई है। आप अच्छी हुई अपनी आंखों से बहू बेटा को देख रहे हो, हमलोगों की बात सची हुई ॥

श्रेयानुदर्कस्तद्भाति गिरः स्मर पुरोऽपि नः ।
ततः सर्वे समेत्याग्निं प्रज्वाल्योपाविशन् सुखम् ॥१७॥
राज्ञा राज्ञ्या सत्यवता सावित्र्या साकमेव च ।
ते सत्यवन्तं प्रपच्छुर्विलम्बागमकारणम् ॥१८॥

अर्थ—उत्तरोत्तर आपका कल्याण होने वाला है आगे भी हमारी यह बात स्मरण रक्खो। फिर सब लोग मिल के अग्नि जला के राजा, रानी, सत्यवान् और सावित्री के साथ ही सुख से बैठे। और सत्यवान् को देर से आने का कारण पूछते भये ॥

कथं कुमार ! नायातौ शीघ्रं चिरयितौ कथयाम् ।
को हेतुर्ब्रूहि सर्वे व्याकुलास्ते पितरौ वयम् ॥१९॥

अर्थ—हे कुमार ! तुम दोनों शीघ्र क्यों नहीं आये। तुमको देर कहां लगी। क्या कारण था सो कहो तुम्हारे माता पिता और हमलोग सभी घबड़ा गए थे ॥

सत्यवानाह पितरावद्यापृच्छ्य वनं गतः ।
सावित्र्या सह मे तत्राकस्मादेधांसि गृह्णतः ॥२०॥
शिरःपीडा समुत्पन्ना शयितोऽस्मि ततश्चिरम् ।
नैव जातु प्रसुप्तोऽस्मीत्येतावद्वेद्मि नापरम् ॥२१॥
पदोत्थित स्तदायातो रात्रावेरव कुटीं प्रति ।
येन यूयं नाकुलाः स्थ नान्या वार्तात्र काचन ॥२२॥

अर्थ—सत्यवान् बोला कि आज माता पिता से पूछ के स्त्री के साथ बन में गया वहां मुझे लकड़ियां लेते हुए एकाएक सिर में पीर उत्पन्न हुई। उस पीछे मैं देर तक सोया ऐसा मैं कभी नहीं सोया था। बस इतना मैं जानता हूं और कुछ नहीं जानता। जब उठा तब रात ही को कुटी में आया जिससे आपलोग नहीं घबरावें। दूसरी बात यहां कुछ नहीं है॥

गौतमः प्राह नयने पितुस्ते नीरुजी कथम् ।
कुमारैतस्य नो चेत् त्वं वक्तुं शक्नोषि कारणम् ॥२३॥
जानन्ती स्याद्धि सावित्री सावित्रि ! त्वं वदाधुना ।
गोप्या नचेदियं वार्ता त्वां देवीमिव मन्महे ॥२४॥

अर्थ—गौतम ने कहा कि हे कुमार तुम्हारे पिता की आंखें कैसे अच्छी हुई इसका कारण जो तुम नहीं कह सकते तो सावित्री अवश्य जानती होगी। हे सावित्री ! तुम्हें हमलोग देवी जैसा मानते हैं, यह बात छुपाने जैसी न हो तो अब तुम कहो॥

सावित्री प्राह युष्माकं विचारः सत्य एव हि ।
गोपयामि पुरः किं वो वक्ष्ये सर्व यथाभवत् ॥२५॥

अर्थ—सावित्री ने कहा कि आपलोगों का विचार ठीक है सो आपलोगों के आगे क्या छिपाऊं जैसा हुआ है सब कहती हूं ॥

महात्मना नारदेन प्रोक्तमासीत् पुरा मम ।
पितरावपि जानीतः पत्युर्निधनमब्दतः ॥२६॥
अत एव मया चीर्णं व्रतं कष्टतमं महत् ।
दिनमासीत् तदेवाद्य नातस्तैर्वियुताभवम् ॥२७॥

अर्थ—महात्मा नारदजी ने मुझे पहिले कहा था कि एक वर्ष में तेरे पति का मरण होगा यह बात मां बाप भी जानते हैं। इसी लिये मैंने अत्यन्त कष्ट का बड़ा व्रत किया। वही दिन आज था इसी लिये मैं उनसे अलग नहीं हुई ॥

यम आगत्य सुप्तानां तेषां जीवं निबध्य च ।
प्रस्थितो दक्षिणामाशां तद् दृष्ट्वाहं तमादरात् ॥२८॥
प्रसादयामास मुहुः स्तुत्वा निर्वर्ण्य तद्गुणान् ।
तैर्मे पञ्च वरा दत्ता दण्डपाशधरै रपि ॥२९॥

अर्थ—वे सोने पर यमराज आकर उनके जीव को बांध के दक्षिण दिशा की ओर चले। वह देख के मैंने आदर से बराबर उनके गुणों को बखान के स्तुति करके उनको प्रसन्न किया। दण्ड और फांसी धारण किये हुए भी उन्होंने मुझे पांच वर दिये ॥

एकेन तत्र नीरुक्त्वं दत्तं श्वशुरनेत्रयोः ।
निःशत्रु राज्यमन्येनान्येन पुत्राः शतंपितुः ॥३०॥

चतुर्थेन वरेणैवं मम दत्ताः शतं सुताः ।
मत्पतेः पञ्चमेनायुर्दत्तमब्दचतुःशतम् ॥३२॥
मन्ये व्रतस्याचरणा द्भगवत्याः प्रसादतः ।
निरन्तरायं सर्वेऽपि पूर्णा मम मनोरथाः ॥३२॥

अर्थ—उन पांचो वरो में एक से ससुरजी को आंखों का अच्छा होना दिया। दूसरे से उन को शत्रुरहित राज्य दिया। तीसरे से पिताजी को सौ पुत्र दिये। ऐसे चौथे वर से मुझे सौ पुत्र दिये। पांचवे वर से मेरे पति को चार सौ बरस का आयुर्दाय दिया। मैं ऐसा मानती हूं कि व्रत के करने से और भगवती के प्रसाद से विना विघ्न के मेरे सब मनोरथ पूरे हुए॥

तपस्विन ऊचुः—

दिष्ट्या सावित्रि ! धन्यासि साधुसाधु पतिव्रते ।
पतिमज्जन्नृपकुलं स्वपुण्येनोद्धृतं त्वया ॥३३॥

अर्थ—तपस्वी लोक बोले कि हे सावित्री ! आनन्द है कि तू धन्य है। वाह ! वाह ! पतिव्रता वाह ! जो डूबते हुए राजा के कुल का तूने अपने पुण्य से उद्धार किया॥

तएवमुक्त्वा वचनं प्रशंसन्तस्तपस्विनः ।
सत्यवन्तं च राजानमापृच्छ्य स्व गृहं ययुः ॥३४॥

अर्थ—वे तपस्वी लोग ऐसा वचन कहके बड़ाई करते हुए सत्यवान् और राजा से पूछ कर (विदा हो कर) अपने अपने घर जाते भये॥

सर्वे प्रातरथान्येद्युर्नित्यकृत्यं विधाय च ।

समेत्य राजनिकटे सावित्र्या अस्तुवन् गुणान् ॥२५॥

अथ—इस पीछे दूसरे दिन प्रातःकाल सब लोग नित्त-नेम करके राजा के पास इकट्ठे हो कर सावित्री के गुणों को बखानने लगे ॥

अस्मिन् काले शाल्वदेशादागत्य बहवो जनाः ।
राजानं प्रणिपत्याहुः कच्चित् स्मरथ नो निजान् ॥२६॥

अर्थ—इस समय शाल्वदेश से बहुत से लोग आ कर राजा को प्रणाम करके बोले कि (हमलोग आप के हैं) हमारा आप अभी स्मरण करते हैं क्या ?

मन्त्रिणा निहतोऽद्यत्वे महाराज ! तवाहितः ।
नाशिपन् बान्धवास्तस्य विध्वस्तं तद्बलं महत् ॥२७॥
सर्वे नागरिकैरेकीभूयैतत् सुविचारितम् ।
भवन्तमेव राजत्वेभिषेक्ष्यामोऽद्य मा चिरम् ॥२८॥
अतश्च चतुरङ्गेण बलेन सहिता वयम् ।
त्वामितो नेतुमायाताः कृपया स्वी कुरुष्व तत् ॥२८॥

अर्थ—हे महाराज ! आजकल आपके शत्रु को मन्त्री ने मार डाला है उसके भाई बन्धु कोई नहीं बचे । उसकी बड़ी भारी सेना सब तितर बितर हो गई । फिर सारे नगर के लोगों ने एक मत होके यह विचारा कि आज आप ही को राज्याभिषेक करेंगे देर न हो । इसलिये रथ, हांथी, घोड़े पैदल चतुरङ्ग सेना को साथ लेकर हमलोग आपको ले जाने के लिये आये हैं यह आप कृपा करके स्वीकार करें ॥

त्वदाज्ञा ख्यापिना तत्र स्वं देशं याहि मा चिरम् ।
सिंहासनं समारोह पुनः पूर्वैरधिष्ठितम् ॥४०॥
दिष्ट्या सद्भाग्यमस्माकमाश्चर्यं जनतासु च ।
नीरुजो यद् भवन्नेत्रे इत्युक्त्वा तउपारमन् ॥४१॥

अर्थ—यहां आप की दोहाई फिर गई है अब अपने देश में चलिये देर न हो। पहिले पुरखा लोग जिसपर बैठे थे उस सिंहासन पर फिर बैठिये। जो आपकी आंखें अच्छी हो गई यह आनन्द है, हमलोगों का अच्छा भाग्य है और (दुनियां में) जगत् में आश्चर्य की बात है। ऐसा कहके वेलोग चुप हुए॥

राजाथ राज्ञ्या पुत्रेण वध्वा च सह तान्नृपान् ।
संप्रणम्याशिषः प्राप्य स्वं देशं प्रस्थितो मुदा ॥४२॥
नगरं प्रविशत्येव राज्ञि मन्त्रिपुरोहितैः ।
नृपोऽभ्यषेचि राजत्वे कुमारो युवराट् पदे ॥४३॥

अर्थ—इस पीछे राजा, रानी कुंअर और बहू के साथ उन ऋषियों को सीस नवा के उनसे असीस पाके आनन्द से अपने देश को गए। राजा नगर में प्रवेश करते ही प्रधान और पुरोहितों ने राजा को राजा पद पर और कुंअर को युवराज पद (कुंवर पदे) पर अभिषेक किया॥

सोऽशासीत् पृथिवीं नृपोऽथ कतिचित्कालेऽप्यतीते ततः
साविच्या अभवन् शतं सुतनयास्तद्वच्छतं भ्रातरः ।
सर्वे सद्गुणिनो नता विनय-

तस्तेजस्विनो धार्मिका
आसंस्ते सुखिनस्तथैव भगवान्
सर्वान् विधत्तां भुवि ॥४४॥

अर्थ—यह द्युमत्सेन राजा पृथिवी पर राज्य करता भया उस पीछे कुछ भी काल बीतने पर सावित्री को सौ उत्तम पुत्र हुए वैसे ही सौ भाई भी हुए। वे सभी जैसे सद्गुण वाले विनय से नम्र तेजस्वी धर्मवान् और सुखी हुए वैसे ही भगवान् पृथ्वी पर सभों को करें॥

जनक उवाच—

सावित्र्येवं कर्मयोगादनेकान्
भुक्त्वा भोगानत्र पत्या सहैव।
प्राप ज्ञानं धर्मराजप्रसादा-
न्मुक्तिं च स्वैः कर्मभिः पर्शुराम॥४५॥

अर्थ—जनक राजा कहते हैं कि हे परशुरामजी! इस प्रकार सावित्री ने कर्मयोग से यहां पति के साथ अनेक उप-भोग करके धर्मराज के प्रसाद से ज्ञान पा के अपने कर्मों ही से मोक्ष को भी पाया॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां चतुर्थः सर्गः॥३४॥



परशुराम उवाच—

सौभाग्यप्राप्तये चीर्णं सावित्र्या त्रिदिनं व्रतम् ।
को विधिस्तस्य कृपया राजन् मे वक्तुमर्हसि ॥१॥

परशुरामजी प्रश्न करते हैं कि सौभाग्य मिलने के लिये सावित्री ने तीन दिन व्रत किया उसका विधि क्या है हे राजन्! वह मुझे कहिये ॥

जनक उवाच—

पूर्णान्तमासमानेन ज्येष्ठामायां स्त्रिया व्रतम् ।
सावित्रीप्रीतये कार्यं त्रिदिनं व्रतमिष्यते ॥२॥

अर्थ—पुनवासी को समाप्त होने वाले महीने से जेठ की अमावस के दिन सावित्री के प्रीत्यर्थ स्त्री ने व्रत करना। व्रत तीन दिन करना चाहिये ॥

त्रयोदशीं समारभ्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
कृत्वैकभुक्तं मध्याह्ने पयो वा व्रतयेत् फलम् ॥३॥

अर्थ—जेठ वदी तेरस से लेके ब्रह्मचर्य व्रत में एक भुक्त करके रहे। मध्याह्न में दूध पीकर रहे वा फलाहार करे ॥

ब्रह्मणा सह सावित्रीं भक्त्यामायां समर्चयेत् ।
अधस्ताद्वटवृक्षस्य वित्तशाठ्यविवर्जितम् ॥४॥

अर्थ—अमावस के दिन वड़ के वृक्ष के नीचे भक्ति से ब्रह्मासहित सावित्री का पूजन करे सामर्थ्य रहते न्यूनता न करे ॥

उपचारैः षोडशभिः पुष्पैर्नानाविधैर्यजेत् ।

विविधान्यर्पयेन्नारी पक्वान्नानि फलानि च ॥५॥

अर्थ—षोडशोपचार से पूजन करे। अनेक प्रकार के पुष्पों से पूजन करे स्त्री अनेक पक्वान्न और अनेक फल सावित्री देवी को समर्पण करे।

वटमूले पयः सिक्त्वा वटं सूत्रेण वेष्टयेत्।
सप्त प्रदक्षिणाः कुर्वन् नमस्कुर्यात सदाशिवम् ॥६॥

अर्थ—वड़ के जड़ में जल सींच वड़ को नाड़े से रक्षाबन्धन करे अर्थात् (सूत लपेटे) सात प्रदक्षिणा करते हुए वटरूपी महादेवजी को नमस्कार करे॥

न वियुक्तासि पत्या त्वं यथा सावित्र्यहं तथा।
यावज्जीवं पतिवियुक्ता न च स्यां त्वत्प्रसादतः ॥७॥
वटरूपःशिवोऽसि त्वं मूलैः शाखाभिराततः।
यथा तथा कुटुम्बेन सन्तानैः प्रतनुष्व माम् ॥८॥
एवं संप्रार्थ्य सावित्रीं वटरूपं च शंकरम्।
ततश्चाष्टोत्तरशतं जुहुयात् पायसेन तु ॥९॥

अर्थ—हे सावित्री देवी। जैसे आप अपने पति ब्रह्मा जी से कभी अलग नहीं होती हैं वैसे ही मैं आपके प्रसाद से जीऊं जब तक पति से अलग न होऊं। आप वटरूपी शिव जी हैं जैसे आप मूल और शाखा से फैले हुए या बढ़े हुए हैं वैसे ही कुटुम्ब और सन्तानों से मुझे भी फैलाइये या बढ़ाइये इस प्रकार सावित्री और वटरूपी शिवजी की प्रार्थना करके एक सौ आठ बार फिर खीर से होम करे॥

ततः प्रसादशेषान्नं भुञ्जीतैवं व्रतं वधूः ।
कुर्यात् त्रिदिनमेकाहं दर्शे वा भक्तिसंयुता ॥१०॥

अर्थ—इस पीछे प्रसाद का शेष अन्न (होम शेष) भोजन करे। स्त्री भक्तियुक्त होके इस प्रकार व्रत तीन दिन करे अथवा एक दिन अमावस को करे ॥

कर्मठाभिर्द्विजस्त्रीभिर्व्रतं कार्यं तु वैदिकम् ।
शूद्राणां नैव वेदोक्तं नाममन्त्रैर्यजन्तु ताः ॥११॥

अर्थ—स्वकर्म तत्पर ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की स्त्रियों ने व्रत वेदमन्त्रों से करना। शूद्र की स्त्रियों को वेद मन्त्र नहीं वे नाममन्त्र से पूजन करें ॥

एवं सावित्र्या व्रतं पशुराम
या स्त्री कुर्यात सा तु देव्याः प्रसादात् ।
वैधव्यं न प्राप्नुयात् पुत्रवित्तै-
र्युक्ता पत्यान्ते सुखं स्वर्वसेच ॥१२॥

अर्थ—हे परशुराम इस प्रकार सावित्री का व्रत जो स्त्री करेगी वह तो देवी सावित्री के प्रसाद से वैधव्य को नहीं प्राप्त होगी। पुत्रों से और धन से युक्त होगी। अन्तकाल में पति के साथ स्वर्ग में वास भी करेगी ॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत भाषाटीकायां पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥३५॥



जनक उवाच—

पुरातनतमं चैकं ब्रह्मज्ञानं हिताय ते ।
पर्शुराम प्रवक्ष्यामि सावधानमनाः शृणु ॥१॥

अर्थ—जनकजी बोले कि हे परशुराम मैं बहुत पुराना एक ब्रह्मज्ञान तुम्हारे हित के लिये कहता हूं सो सावधान होकर सुनो ॥

पुरा मनुः स्वपितरं पप्रच्छैत्य पितामहम् ।
एकं तातोपदिश मे ब्रह्मज्ञानं पुरातनम् ॥२॥

अर्थ—पूर्वकाल में मनुजी अपने पिता ब्रह्माजी के पास जाकर पूछने लगे कि हे पिता मुख्य प्राचीन ब्रह्मज्ञान का मुझे उपदेश कीजिये ॥

तदा ब्रह्मा मुदा युक्तः प्राहधन्योऽसि पुत्रक ।
वेत्सि सर्वं परोक्षं ते किंचिदप्यस्ति वस्तु नो ॥३॥

अर्थ—तब ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर कहा कि हे पुत्र तुम धन्य हो तुम सब कुछ जानते हो तुमसे कोई वस्तु छिपी नहीं है ॥

वेत्सि वेदत्रयीं सम्यक् स्वनाम्ना निर्मिता स्मृतिः ।
त्वया वेदानुकूल्येन तां ज्ञात्वा ब्रह्म तद्विदुः ॥४॥
मुनयश्चाथ विद्वांसो धर्मानुपदिशन्ति च ।
प्रजाः पान्ति च राजानो धर्मसीमावशा विशः ॥५॥
स्वधर्मतत्पराः शूद्राः सेवन्ते सर्वदा द्विजान् ।
युगेषु शास्त्रमेतद्धि प्रमाणं स्याचतुर्ष्वपि ॥६॥

अर्थ—तुम तीनों वेदों को अच्छी तरह से जानते हो और तुमने अपने नाम से एक धर्मशास्त्र बनाया है वह वेदों के अनुकूल ही है उसको जान कर मुनि लोग उस ब्रह्म को जानते हैं और पण्डित लोग धर्मों का उपदेश करते हैं। क्षत्रिय लोग प्रजाओं का पालन करते हैं, वैश्यलोग धर्म की मर्यादा के वश रहते हैं। और शूद्र लोग अपने धर्म में तत्पर होके सदा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों की सेवा करते हैं निश्चय है कि यह शास्त्र चारों युगों में प्रमाण गिना जायगा॥

न मन्येत मनुप्रोक्तं शास्त्रं यः कोपि मानवः।
स ब्रह्महा स्यान्नरके वसेदाचन्द्रतारकम् ॥७॥
वर्तनीयं बुधैस्तस्मादेतच्छास्त्रानुसारतः।
तद्विरुद्धं वदेत् कश्चित् तन्मन्येत कदापि न ॥८॥

अर्थ—जो कोई मनुष्य मनु के कहे हुए धर्मशास्त्र को नहीं मानेगा वह ब्रह्म हत्यारी होगा और जब तक सूर्य्य और चन्द्रमा हैं तब तक नरक में वास करेगा। इसलिये विद्वानों ने इस शास्त्र के अनुसार बरतना चाहिये। उसके विरुद्ध जो कोई कहे उसको कदापि नहीं मानना॥

एवं जानन्नपि वत्सैवं मन्मर्यादां रिरक्षिषुः।
पृच्छस्येकाग्रमनसा तच्छृणुष्व शमस्तु ते ॥९॥

अर्थ—हे पुत्र तुम ऐसा सब जानते हुए मेरी मर्यादा रखने की इच्छा से पूछते हो सो एकाग्र चित्त हो कर सुनो तुम्हारा कल्याण हो॥

ईशा वास्यमिद ँ सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१०॥

अर्थ—इस संपूर्ण जगत् को (ईशा) परमेश्वर स्वरूप आत्मा के रूप से ढंक देना चाहिये अर्थात् दूसरा जगत् में कुछ नहीं है ऐसा विचार करना चाहिये। जोकुछ तीनों लोक में वस्तु है उसकी ममता (यह मेरा है) छोड़ के उपभोग करो। उसकी अभिलाषा (यह मुझे चाहिये इत्यादि) मत करो। क्योंकि धन किसका है? किसीका नहीं ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥११॥

अर्थ—यहां इहलोक में कर्म करते हुए ही सौ बरस जीना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्यरूप तुम में (आत्मा में) कर्म लिप्त नहीं होता। इससे अन्यथा अर्थात् कर्तव्य कर्म नहीं करने से कर्म लिप्त नहीं होने का उपाय नहीं है। क्योंकि बिना कर्म के कोई रह नहीं सकता तब जो कर्म उससे बनेगा उसीसे यह लिप्त होगा उससे यह बँध जायगा, ऐसा कर्तव्य यज्ञ यागादि कर्मों से नहीं बँध सकता यह अभिप्राय है ॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥१२॥

अर्थ—जो कोई कर्तव्य कर्म नहीं करने वाले अर्थात् कामनावश से काम्य कर्म करने वाले अर्थात् आत्मा के नाश करने वाले मनुष्य हैं वे मरने के उपरान्त उन लोकों में या उन

जन्मों में प्राप्त होते हैं। जो लोक असुरों के हैं और अन्धियारे से घिरे हुए हैं। जो जन्म अपने प्राण पालने के हैं और अज्ञान से ढंके हैं॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥१३॥

अर्थ—आत्मा एक है, अपनी अवस्था से डुलता नहीं, मन से भी अधिक उसका वेग है। देवता भी उसको नहीं पा सकते अर्थात् नहीं जान सकते। अथवा (देव) इन्द्रिय उसको नहीं पा सकते क्योंकि आत्मा मन से अधिक वेग वाला है। (पूर्वमर्शत्) जो देवताओं के वा मन इन्द्रिय आदियों के पहिले भी विद्यमान है नष्ट नहीं होता। जो (तिष्ठत्) स्वयं बिकार रहित रह के दौड़ने वालों को पीछे कर देता है। उस आत्मा में वायु (अपः) प्राप्त होने वाले कर्मों को स्थापित कर देता है॥

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥१४॥

अर्थ—वह आत्मा चलता है ऐसा मूढ़ दृष्टि से मन में आता है सो वह नहीं डुलता है स्थिर है। जो दूर है ऐसा भासता है वह पास ही है। वह इस संपूर्ण जगत् के भीतर और बाहर दोनों ओर है। अथवा अद्भुतरूप से वह चलता

है स्थावररूप से नहीं चलता। नक्षत्रादिरूप से दूर है पृथ्वीरूप से पास है। प्राणियों के भीतर विज्ञानरूप से है जडरूप से बाहर है। सारांश सभी आत्मरूप है॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥१५॥

अर्थ—जो पुरुष सब भूतों को प्रकृति से स्थावर पर्यन्त सब चेतनों को आत्मा ही में देखता है आत्मा से अलग नहीं मानता और संपूर्ण चेतनों में आत्मा को देखता है उस देखने से उसको सन्देह नहीं होता। जब सब चेतनों को आत्मा में देखता है तब उनके सुख से सुखी उनके दुःख से दुःखी होता है और जब सब चेतनों में आत्मा को देखता है तब सब को सुख ही देगा दुःख कभी न देगा तब सन्देह का अवसर ही क्या रहा? अथवा आत्मा से अन्य दूसरा कोई नहीं है ऐसा जो देखता है उसको दूसरा कोई नहीं रहने से ही सन्देह का अवसर नहीं॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥१६॥

अर्थ—ज्ञाता पुरुष के जिस अवस्था में सब चेतन मात्र आत्मा ही बन गए हैं उस अवस्था में उस एकता देखने वाले को मोह और शोक क्या हो सकता है?

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

अर्थ—वह ज्ञानी पुरुष (कवि) पग पग का वृत्तान्त जानने वाला बुद्धिमान् सर्व जगद्रूप स्वयं एकरूप है इससे शुद्ध शरीर रहित अतएव व्रणरहित तथा (स्नायु) नसों से रहित (शुद्ध) सत्वादिगुणों से अलिप्त अतएव पाप रहित या क्लेश कर्म विपाक आशय इनके स्पर्श से रहित जो ब्रह्म है उसको पाता है वा जानता है। और वह अनन्त वर्षों तक यथार्थ रूप से कर्तव्य अर्थों को सिद्ध करता है॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्या ़ रताः॥१८॥

अर्थ—जो पुरुष असंभव पुनर्जन्म नहीं होना या आत्मा का नष्ट होना मानते हैं अथवा असंभव मिथ्यारूप माया के कार्यों को मानते हैं वे अन्धियारे में घुसते हैं अर्थात् उनको ज्ञान प्राप्ति नहीं होती। फिर जो संभव केवल ब्रह्म ही को मानते हैं कर्तव्य कर्मों से बहिर्भूत हैं अथवा संभव कार्यकारी सगुण ब्रह्म की ही उपासना करते हैं वे उनसे भी अधिक अँधियारे में घुसते हैं अर्थात् वे उनसे भी अधिक अज्ञानी हैं॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१९॥

अर्थ—संभव से केवल ब्रह्मोपासना से या कार्यकारी ब्रह्मोपासना से और ही अणिमादि अष्टसिद्धि सिद्ध होने का फल

है। ऐसा ही असंभव की उपासना से अंधियारे में घुसना वा प्रकृति में लय होना अथवा मिथ्यारूप जगत् का भी अनुभव लेना इत्यादि फल है, ऐसा वे विद्वान् लोग कहते हैं और उनकी बातों को हम सुनते आते हैं जिन विद्वानों ने हमलोगों के लिये व्याख्यान दिये हैं ॥

संभूतिं च विनाशंच यस्तद्वेदोभय ँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥२०॥

अर्थ—संभव ब्रह्म, विनाश शरीर दोनों को जो पुरुष एक साथ रहने वाला जानता है अतएव शरीर से निष्काम कर्तव्य कर्म करता है वह विनाश से शरीर से, मृत्यु से तर जाने का कार्य करके ब्रह्मोपासना से मोक्ष को प्राप्त होता है। अथवा संभव उत्पन्न होना विनाश मर जाना दोनों को शरीर में एक साथ जो जानता है वह उपाय में अवश्य प्रवृत्त होगा मरण वा उसके दुःखों के देखने से मृत्यु से तर जाना चाह के जन्म पाके मोक्ष साधन करके उसको पाता है ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ रताः ॥२१॥

अर्थ—अविद्या केवल अग्निहोत्रादि कर्म करना आत्मा को न जानना है। विद्या केवल ब्रह्मज्ञान, देवता और कर्मों को न जानना वा न मानना है। जो लोक केवल अविद्या की उपासना करते हैं, वे अंधियारे में घुसते हैं अर्थात् अज्ञानी हैं, फिर जो केवल विद्या में आसक्त हैं वे कर्तव्यकर्म न करने

के दोष से वा देवता शाप से उससे अधिक अंधियारे में घुसते हैं अधिक अज्ञानी होते हैं ॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥२२॥

अर्थ—विद्या का ब्रह्मज्ञान का मोक्षरूप और ही फल है अविद्या का कर्तव्य कर्मों का पितृलोकादि और ही फल है ऐसा कहते हैं। जिन लोगों ने हमलोगों के लिये व्याख्यान दिये हैं, उन विद्वानों के ऐसे वचन हैं ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥२३॥

अर्थ—विद्या ब्रह्मज्ञान या देवताज्ञान अविद्या कर्तव्य कर्मज्ञान दोनों को जो एक साथ जानता है वह कर्तव्य कर्म के ज्ञान से मृत्यु से तरने का उपाय करके ब्रह्मज्ञान वा देवता ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृत ँ स्मर ॥२४॥

अर्थ—(वायु) सूक्ष्म शरीर (अनिल) परिशुद्ध बुद्धितत्व को तथा (अमृत) अधिदैवत सर्वात्मरूप को प्राप्त हो, यह प्रार्थना है। स्थूल शरीर का अन्त भस्म होने तक है अर्थात् इसका एक २ अवयव अलग हो जाने का है। ओंकार ब्रह्मवाचक है सो ओं यह परमेश्वर का सम्बोधन है अर्थात् उस को ओं इस नाम से पुकार के कहते हैं कि हे ओं (क्रतो संक-

रूपात्मक कर्मरूप) स्मरण करो अर्थात् ब्रह्मचर्य में वा गार्हस्थ्य में आपकी सेवा की है उसका स्मरण करो (क्लिवे) मेरे लिये जो आपका कल्पना किया हुआ सोचा हुआ लोक है उसका स्मरण करो और जो मैंने जन्म से अब तक कर्म किये हैं उन का स्मरण करो ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥२५॥

अर्थ—हे अग्ने हे अग्निरूप परमेश्वर (देव) दातार (राये) मुक्तिरूप उत्तम धन मिलने के लिये हमको अच्छी राह से देवमार्ग से अथवा जन्ममरणरहित मार्ग, से लेचलो। आप सब [वयुन] कर्मों के वा प्रज्ञानों के जानने वाले, हैं। हमारे (जुहुराण) विपरीत प्रतिबन्ध करने वाले पापों से हमको अलग करो वा उनसे लड़ो। हम तुमको बहुत से नमस्कार करेंगे अर्थात् प्रणामरूप तुम्हारी सेवा करेंगे ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ ओ३म् खं ब्रह्म ॥२६॥

अर्थ—(हिरण्मय पात्र) ज्योतीरूप मण्डल से, सत्य जो सूर्य्यमण्डल में स्थित पुरुष है उसका मुख शरीर ढंका हुआ है तथापि जो सूर्य्यमण्डल में पुरुष है वह यह मैं हूं। ओ३म् ब्रह्म आकाशरूप है। यह अन्त में भावना करने का प्रकार है ॥इति॥

ज्ञानं पितुः समधिगम्य मनुस्त्वथैवं
स्तुत्वा प्रणम्य मुदितः पितरं बभाषे।
श्रेष्ठो मया प्रणव एव मतः स्वशास्त्रे-
ष्वध्वा परः प्रणवतो न परेशमाप्तुम् ॥२७॥

अर्थ—ऐसा पिता के पास से ज्ञान को प्राप्त करके स्वायंभुव मनुजी उनको प्रणाम करके उनकी स्तुति करके बोले। हे पिता मैंने अपने शास्त्र में भी प्रणव ही को श्रेष्ठ माना है परमात्मा के मिलने के लिये प्रणव को छोड़ के दूसरा मार्ग नहीं है॥

इति ब्रह्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकलालगुप्तकृत
भाषाटीकायां षट्त्रिंशः सर्गः ॥३६॥



वाल्मीकिरुवाच—

एवं परशुरामस्तु लब्ध्वा ज्ञानं विदेहतः ।
सन्तुष्टः क्रोधमजहात् ततो वचनमब्रवीत् ॥१॥

अर्थ—वाल्मीकि ऋषि रामचन्द्र जी से कहते हैं कि इस प्रकार परशुरामजी ने जनक राजा से ज्ञान पाके प्रसन्न हो और क्रोध को त्याग किया फिर वचन बोले ॥

राजन् शान्तो मम क्रोधो मया त्वाचरितं बहु ।
दुरितं यद्वधेनासीन्मुहुः क्षत्रियसंहतेः ॥२॥
अद्यप्रभृति जीवानां विधास्ये न वधं भुवि ।
दास्ये न दुःखं केषांचित् प्रतिज्ञेयं ममेदृशी ॥३॥

अर्थ—हे जनक राजा ! मेरा क्रोध शान्त हुआ, मैंने तो बहुत पाप किया जो पाप बारबार क्षत्रिय समुदायों के मारने से हुआ है । मैं आज से भूमि पर जीवों का वध नहीं करूंगा और किसीको दुःख नहीं दूंगा ऐसी यह मेरी प्रतिज्ञा है ॥

महात्मने कश्यपाय विजितां पृथिवीमहम् ।
दत्वा गत्वा महेन्द्राद्रौ स्थास्ये तं प्रणवं स्मरन् ॥४॥
यथोपदिष्टं भवता तज्जपन्तस्तपःस्थिताः ।
तातपादा निश्चिनोमि तस्मादोंमन्त्र उत्तमः ॥५॥
न विना प्रणवाभ्यासान्मुक्तिभाक् कोऽपि जायते ।
नातः परतरो मन्त्रः कोऽपि श्रेयस्करो भुवि ॥६॥
सकृदोङ्कारजपनः पापं नश्येन्ममाखिलम् ।
फरोत्यग्निकणो यद्वत् तूलराशिं हि भस्मसात् ॥७॥

अर्थ—अब क्षत्रियों से जीती हुई पृथ्वी को महात्मा कश्यपजी को दान करके महेन्द्राचल पर जाकर उस प्रणव का स्मरण करता हुआ मैं ठहरूंगा। जैसा आपने उपदेश किया उसका जप करते हुए मेरे पिता जी तपस्या करते थे उससे निश्चय करता हूं कि ओंकार मंत्र उत्तम है। बिना प्रणव के अभ्यास के कोई भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता इसलिये प्रणव छोड़ के दूसरा मंत्र कोई भी भूमि पर कल्याण कारक नहीं है। एक बार ॐकार का जप करने से मेरा सब पाप नष्ट हो जायगा। जैसा एक अग्नि का कण रूई के ढेर को भस्म कर देता है॥

प्रणवः सर्वमन्त्रेभ्यो नामभ्यः परमात्मनः।
मुने श्रेष्ठनमः प्रोक्तस्तं जपन्तः सदा स्थिताः॥८॥
सन्यासिनश्च मुनयो ब्रह्मक्षत्रविशस्तथा।
तं नो विदुस्ते पशवोऽमुत्र नारकगामिनः॥९॥

अर्थ—जनक जी कहते हैं कि हे परशुराम! प्रणव सब मंत्रों से तथा परमात्मा के सब नामों से श्रेष्ठ है। सन्यासी, मुनि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य उसका सर्वदा जप करते हुए स्थित हैं। जो लोग ॐकार को नहीं जानते वे पशु हैं और मरने पर नरक में जाते हैं॥

लक्षवर्षं जपन्मन्त्रमन्यं सिद्धिं न विदन्ति।
मुक्तिं च प्रणमोङ्कारजपात् तं लभते पुमान्॥१०॥
स्मरेदोमित्येकदान्तो कृत्वापः किंचिदप्यघम्।

उद्धारिनं तदर्थं तु स्वद्वारं नात्र संशयः ॥११॥
स्मृतिरोमत्यन्तकाले पशुराम सुदुर्लभा ।
त्वमुपित्वा महेन्द्राद्रौ स्मरोमिति दृढ़ासनः ॥१२॥
सुखं ब्रह्मणि लीनः स्याः स्वःप्राप्तिः किं नु दुर्लभा ।
पशुरामावयोः सत्यसंवादं यो वदेदसत् ॥१३॥
स लक्षब्रह्महत्याया दुरितं निश्चयाल्लभेत् ।
निरये च पतेद्यावत् सूर्याचन्द्रमसौ दिवि ॥१४॥

अर्थ—अन्य मंत्र लक्ष वर्ष जप करने पर भी मनुष्य सिद्धि को तथा मुक्ति को नहीं पाता और तीन दिन ओंकार के जप करने से सिद्धि और मुक्ति दोनों को पाता है। जो अन्तकाल में एकबार ओंकार स्मरण करे वह कितना भी पाप किये हुए हो उसके लिये स्वर्ग का द्वार खुला हुआ है इसमें सन्देह नहीं। हे परशुरामजी अन्तकाल में ओंकार का स्मरण होना अत्यन्त दुर्लभ है। अब तुम महेन्द्राचल पर वास करके दृढ़ आसन मार करके ओंकार का स्मरण करो तो सुख से ब्रह्म में लीन होजाओगे फिर स्वर्ग की प्राप्ति क्या दुर्लभ है। हे परशुरामजी! जो पुरुष हमारे तुम्हारे संवाद को झूठा कहेगा वह निश्चय करके लाख ब्रह्महत्या के पाप को पावेगा और जब तक आकाश में सूर्य और चन्द्रमा हैं तब तक नरक वास करेगा॥

इदं ग्रामज्ञानशास्त्रं लुब्धाय कुटिलाय च ।
लम्पटाय कृतघ्नाय दुष्टाय यवनाय न ॥१५॥

जातु वाच्यं वेदशास्त्रनिन्दातत्पर चेतसे ।
एतद् गुह्यतमं ज्ञानं श्रेष्ठं जगति नापरम् ॥१६॥

अर्थ—यह ब्रह्मज्ञान शास्त्र लोभी को, कुटिल को, लंपट को कृतघ्न को, दुष्ट को और यवन को कभी नहीं कहना जिसका चित्त वेद शास्त्र की निन्दा में तत्पर है उसको भी नहीं कहना यह ज्ञान अत्यन्त गुप्त है जगत् में, दूसरा श्रेष्ठ ज्ञान नहीं है ॥

सन्यासयोगयुक्तो यः पण्डितो ब्राह्मणो मुनिः ।
अपि वेदेष्वेकमपि न वेद न मनुस्मृतिम् ॥१७॥
न माण्डूकोपनिषदं न ब्रह्मज्ञानशास्त्रकम् ।
पशुतुल्यः स तस्य स्युः क्रियाः सर्वास्तु निष्फलाः ॥१८॥
तस्मै दानमपार्थं स्यान्यथामे मृद्घटे जलम् ।
स स्वयं नरकं याति यजमानं नयत्यपि ॥१९॥

अर्थ—जो सन्यासी, पण्डित, ब्राह्मण या मुनि तीनों वेदों में से एक भी वेद, मनुस्मृति, माण्डूकोपनिषद् और ब्रह्मज्ञानशास्त्र को नहीं जानता वह पशु के समान है उसकी सब क्रिया निष्फल होंगी उसको दान देना व्यर्थ होगा जैसा कच्चे मिट्टी के घड़े में जल रखना व्यर्थ है। वह आप, नरक में जाता है और यजमान को भी साथ ले जाता है ॥

इदं ब्रह्मज्ञानशास्त्रं मयोक्तं षड्मुख नम ।
सन्यासिनां मुनीनां च ज्ञानिनां स्याद्दतिप्रियम् ॥२०॥
इदमेव पुरा ब्रह्मज्ञानशास्त्रं गुहाय च ।
उपदिष्टं गुरुस्तुष्टः स प्रयाति सर्वं गतः ॥२१॥

अर्थ—हे परशुरामजी यह ब्रह्मज्ञान शास्त्र मैंने तुमको कहा वह सन्यासी, मुनि और ज्ञानी जनों को अति प्रिय होगा। शुकदेवजी को इसी ब्रह्मज्ञान शास्त्र का मैंने उपदेश किया वे सन्तुष्ट हो कर ब्रह्म में लीन हो गए॥

वाल्मीकिरुवाच—

श्रुत्वेदं परशुरामोऽपि मुनये कश्यपाय तु।
अखिलां पृथिवीं प्रादाद्दते माहेन्द्रपर्वतात् ॥२२॥
चक्रमे स्वनिवासार्थं स च तां पर्वतस्थलीम्।
वसुमत्यां प्रदत्तायां न वास उचितो यतः ॥२३॥

अर्थ—वाल्मीकि मुनि रामचन्द्रजी से कहते हैं कि परशुरामजी ने यह सुन कर कश्यप मुनि को महेन्द्राचल छोड़ सब पृथिवी का दान कर दिया और उस महेन्द्राचल के स्थल को अपने रहने के लिये चाहा जो उसका भी दान कर देते तो उसमें रहना उचित नहीं था॥

ततः परशुरामस्तु महेन्द्रगिरिगह्वरे।
वसन् स्मरंश्च प्रणवं लीनो ब्रह्मणि चाभवत् ॥२४॥
यथा परशुरामं प्रत्युदितं जनकेन तु।
ब्रह्मज्ञानं तथैतत्ते विस्तारेणोदितं मया ॥२५॥

अर्थ—उसके उपरान्त परशुरामजी महेन्द्राचल की गुफा में वास करके प्रणव का स्मरण करके ब्रह्म में लीन हो गए। हे रामचन्द्रजी! जैसा जनक राजा ने ब्रह्मज्ञान शास्त्र परशुरामजी को कहा वैसा यह तुमको मैंने विस्तार से कहा॥

श्रुत्वैवं वचनं रामो वाल्मीकेः प्रणनाम तम् ।
विनयावनतश्चाङ्घ्र्योः पतितो वाच ऽचिवान् ॥२६॥
ब्रह्मज्ञानं मुनेऽत्यन्तश्रेष्ठं यद्भवतोदितम् ।
अतः परतरं श्रेष्ठं संसारे नास्ति किंचन ॥२७॥
य इच्छेद्ब्रह्मणि लयं संन्यासी पण्डितो मुनिः ।
आत्मनः स इदं ब्रह्मज्ञानशास्त्रं समभ्यसेत् ॥२८॥

अर्थ—रामचन्द्रजी ऐसा वाल्मीकि ऋषि का वचन सुन के प्रणाम करते भये और विनय से पावों पर पड़ के वचन बोले कि हे वाल्मीकिजी! आपने जो ब्रह्मज्ञान कहा वह अत्यन्त श्रेष्ठ है इससे दूसरा संसार में कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है। जो सन्यासी पण्डित मुनि ब्रह्म में अपना लय होना चाहे वह इस ब्रह्मज्ञानशास्त्र का अभ्यास करे॥

गुरोर्वसिष्ठतो ज्ञानं मया श्रुतमनेकधा ।
नाभवत् तेन सन्तोषो मम सन्दिग्धचेतसः ॥२९॥
सार्कं परशुरामेण संवादो जनकस्य च ।
श्रुतोऽधुना ततो लब्धं ब्रह्मज्ञानमघापहम् ॥३०॥
तस्माच्छान्तिश्च सन्तोषो मयेतस्युदभूदयम् ।
सरिदब्धेरिवैकान्ते नान्यो मन्त्रो यतः परः ॥३१॥

अर्थ—मैंने गुरु श्रीवसिष्ठजी से अनेक प्रकार का ज्ञान सुना मेरे मन में सन्देह था इसलिये उससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। अभी परशुरामजी के साथ जनकजी का जो संवाद हुआ था सो सुना उससे, पाप नाश करने वाला ब्रह्मज्ञान

पाया। उससे मेरे चित्त में शान्ति और सन्तोष उत्पन्न हुआ अब मैं एकान्त में ओंकार का स्मरण करूंगा क्योंकि इससे श्रेष्ठ दूसरा मन्त्र नहीं है॥

वाल्मीकिरूचे ननु रामचन्द्र
नैन लघुं त्वं प्रणवं हि विद्धि।
श्रेष्ठोऽस्ति मन्त्रो न परस्तु यस्मा-
द्ब्रह्मादयो यं प्रजपन्ति नित्यम्॥२३॥
महर्षयो यं यतयश्च सिद्धा
जप्त्वापुर्यस्तत परमं पदन्तु।
इत्येवमुक्त्वा पुनरेव रामं
चकार वाल्मीकिमुनिर्विरामम्॥२४॥

अर्थ—वाल्मीकिजी बोले कि हे रामचन्द्र! इस प्रणव को तुम छोटा सा मत जानो जिससे श्रेष्ठ कोई दूसरा मन्त्र नहीं है और जिसका ब्रह्मादिक देवता भी नित्य जप करते हैं जिसका जप करके महर्षि यति और सिद्ध लोग उस परम पद को पाये। ऐसा रामचन्द्रजी से वाल्मीकि जी फिर कहके चुप हो गए॥

इति आत्मज्ञानशास्त्रे श्रीवाल्मीकिमुनिकृते जनक
परशुरामसंवादे राजवैद्यरामसेवकत्यालगुप्तकृत
भाषाटीकायां सप्तत्रिंशः सर्गः॥३७॥



अथोदतिष्ठत् कमलासनोऽपि
रामं सभायां प्रतिज्ञाचमूचे ।
हे राम ! वाल्मीकिमुनिर्यदाह
तत्सत्यमित्यत्र न कोऽपि वादः ॥१॥
प्रणवस्मरणाद्यतो मया
समवाप्ता पदवी गरीयसी ।
सुसदाः सदसि स्थिता इमे-
ऽप्यलभन्ताच्यपदं महर्षयः ॥२॥
एतत् ब्रह्मज्ञानशास्त्रं पवित्रं
सर्वज्ञानेभ्यः परं यद्विनात्र ।
नान्यः पन्था अस्ति लब्धुं परेशं
सत्यं विद्यास्तत् त्वयाद्य श्रुतं यत् ॥३॥
इत्युक्त्वा सपदि कमण्डलुं स चैकं
वाल्मीकाय च मुनये ददौ प्रहृष्टः ।
स्यादस्य क्षयि न जलं सदा शुचीद-
मित्येवं सदसि वदन् सुखेोपविष्टः ॥४॥

अर्थ—इस पीछे सभा में ब्रह्माजी भी उठे और रामचन्द्रजी के प्रति वचन बोले कि हे राम जो वाल्मीकि मुनि ने कहा वह सत्य है इसमें कोई झगड़ा नहीं है। जिस कारण प्रणव के स्मरण से श्रेष्ठ पदवी मैंने पाई और जो इस सभा में देवता और महर्षि स्थित हैं इन्हों ने भी प्रणव के स्मरण से पूज्य पद पाया। यह ब्रह्मज्ञान शास्त्र पवित्र है सब ज्ञानों से श्रेष्ठ है जिसके बिना यहां परमेश्वर के मिलने का दूसरा मार्ग

नहीं है यह बात सत्य जानो जो ब्रह्म ज्ञानशास्त्र आज तुमने सुना है। ऐसा कह के शीघ्र ही ब्रह्माजीने एक कमण्डलु प्रसन्न हो के वाल्मीकि मुनि को दिया। और यह कहा कि इसका जल कभी नहीं घटेगा यह सदा पवित्र है ऐसा कहते हुए सभा में सुख से बैठ गये॥

अथ शिव उत्थायाचे वाल्मीकिमुनेर्विदेहकथितं यत्।
ब्रह्मज्ञानं शास्त्रं सत्यं नातः परं श्रेष्ठम् ॥५॥
प्रणवादपरो मन्त्रः श्रेष्ठो नास्तीह यत्स्मरणात्।
अहमपि महत्तमामिह पदवीं प्राप्तः परेशितुः कृपया ६॥

उक्त्वैवमेकं मुनये सुपात्रं
दत्त्वाह चेप्टान्नदमेतदस्ति।
प्राग् याचितान्नं प्रददाति रिक्तं
न स्यात् परस्तादुपविष्ट ईशः ॥७॥

अर्थ—इस पीछे शिवजी उठ कर बोले कि वाल्मीकि मुनि को जनक राजा ने जो ब्रह्म ज्ञान शास्त्र कहा वह सत्य है इससे दूसरा श्रेष्ठ नहीं है और प्रणव से दूसरा मन्त्र श्रेष्ठ नहीं है जिसके स्मरण से मैंने भी अत्यन्त श्रेष्ठ पदवी को परमेश्वर की कृपा से पाया। ऐसा कह के वाल्मीकि को एक कटोरा दे के कहा कि इष्ट भोजन पदार्थ देने वाला यह कटोरा है मांगा हुआ भोजन यह शीघ्र देता है खाली नहीं होगा, पीछे शिवजी बैठ गये॥

उत्थायेन्द्रोऽप्याह वाल्मीकिनोक्तं
ब्रह्मज्ञानं शास्त्रमत्युत्तमं हि।

श्रेष्ठो मन्त्रश्चोमिति ब्रह्मरूपो
मार्गो नान्योऽस्मात् परेशस्य लब्धेः ॥८॥
इत्युक्त्वा स प्रादात् सुममालां सततमम्लानाम् ।
नित्यनवामिव यस्ति क्रोशावधि यस्य सौगन्ध्यम् ॥९॥
यस्सद्गन्धग्रहणात् सर्वे रोगा विनश्येयुः ।
पश्चादुप विष्टोऽसौ कृत्वा गुणवर्णनं तस्याः ॥१०॥

अर्थ—फिर इन्द्र उठ कर बोले कि वाल्मीकि मुनि ने ब्रह्म ज्ञानशास्त्र कहा वह अति उत्तम है ॐकार मंत्र भी श्रेष्ठ है और ब्रह्मरूप है इसको छोड़ के परमेश्वर के मिलने का दूसरा मार्ग नहीं है। ऐसा कह के इन्द्र ने एक फूलों की माला जो कभी नहीं मुरझावे वाल्मीकि मुनि को दी। वह माला नित्य नई जैसी रहती थी एक कोस तक उसका सुगन्ध जाता था, जिसका सुगन्ध लेने से सब रोग नष्ट होवें इस प्रकार उसका गुण वर्णन करके पीछे इन्द्रजी बैठ गये॥

वामदेवमुनिराह वच्मि किं
यत् पितामहमुखैः प्रशंसितम् ।
ब्रह्मशास्त्रमथ चोमिति प्रभोः
प्रापकं परमतो न चापरम् ॥११॥

अर्थ—फिर वामदेव मुनि बोले जिस ब्रह्म ज्ञानशास्त्र की ब्रह्मा आदि देवताओं ने प्रशंसा की उसको मैं क्या कहूं। ब्रह्मज्ञानशास्त्र और ॐकार मन्त्र परमेश्वर की प्राप्ति करने वाला है इससे दूसरा श्रेष्ठ नहीं है॥

अथागस्तिरुत्थाय मध्ये सभाया-
मवोचित् सदुक्तं हि वाल्मीकिनेदम् ।
न च श्रेष्ठमस्मात् परं ज्ञानमस्ति
वरं हीशनामस्विहोमित्यलं हि ॥१२॥
सिद्धिमाप्नोति लीयेत स ब्रह्मणि
ब्रह्मशास्त्रं पठेयः स्मरेदोमिति ।
एवमुक्त्वात्र रुद्राक्षमालां ददौ
ज्ञाननिष्ठाय वाल्मीकये हर्षतः ॥१३॥

अर्थ—इस पीछे अगस्ति मुनि सभा में उठके बोले यह वाल्मीकि मुनि ने बहुत उत्तम कहा इससे दूसरा कोई ज्ञान, श्रेष्ठ नहीं हैं और निश्चय से यहां परमेश्वर के नामों में ॐकार श्रेष्ठ है। और पूर्ण हैं जो ब्रह्मज्ञान शास्त्र को पढ़े और ॐकार का स्मरण करे वह सिद्धि को प्राप्त होता है और ब्रह्म में लीन होता है। ऐसा कह के अगस्ति मुनि ने ज्ञाननिष्ठ वाल्मीकि मुनि को हर्ष से रुद्राक्ष की माला दी ॥

अथो वसिष्ठो वचनं जगाद
यत्पर्शुरामाय विदेह आह ।
तदखिलज्ञानविधेयरिष्टं
श्रेष्ठं न चातो गदितं न च स्यात् ॥१४॥
गोप्यं चैतद्ब्रह्मविज्ञानशास्त्रं
भक्त्या येनाकर्णितं तस्य मुक्ती ।
कः सन्देहो वेदशास्त्रेषु तस्य
ज्ञातव्यं किं चावशिष्येत लोके ॥१५॥

अर्थ—इस पीछे वशिष्ठ मुनि वचन बोले कि जो परशुरामजी को जनक राजा ने ज्ञान कहा वह सब ज्ञान के प्रकारों से श्रेष्ठ है । इससे श्रेष्ठ दूसरा कहा हुआ नहीं है और न आगे होगा । यह ब्रह्मज्ञानशास्त्र गोपनीय है जिसने भक्ति पूर्वक इसको सुना है उसके मुक्ति में क्या सन्देह है इस लोक में उस को वेद और शास्त्र में जानने का क्या शेष रहेगा ॥

प्रणवसदृशो नान्यो मन्त्रोऽस्य च स्मरणात् पुरा
नृपकुलभवो विश्वामित्रोऽग्रजत्वमुपेयिवान् ।
मनुवरममुं यो नो विद्यात् सलक्षसमास्तप-
श्चरतु तदपि प्राप्तौ मुक्तेर्न चाधिकृतो भवेत् ॥१६॥
प्राणप्रयाणसमये प्रणवैकवार-
स्मर्ताञ्जसा भजति मुक्तिमपास्तदोषः ।
शम्भुस्त्वभूत् स्मरणतोऽस्य सुरेषु वर्यो
ब्रह्माप्यवाप पदवीममरैरवाप्याम् ॥१७॥
लेभे हरिः स्मरणतः प्रणवस्य शक्तिं
या विश्वपालनविधौ विनियुज्यते स्म ।
आभाष्य चैव मददाद्बहुमूल्ययुक्तां
वाल्मीकये ललितमौक्तिकमालिकां सः ॥१८॥

अर्थ—प्रणव के समान दूसरा मन्त्र नहीं है पहिले इसके स्मरण से क्षत्रियवंश में उत्पन्न विश्वामित्र जी ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए । जो इस मन्त्र को नहीं जाने वह भले ही लाख बरस तक तपस्या करे तो भी मुक्ति के पाने में उसका अधिकार नहीं होगा । प्राण छूटने के समय जो एक बार प्रणव का स्मरण करे वह सब पापों से छूट कर सुख से मुक्ति को पाता

है। इसके स्मरण से महादेवजी देवताओं में श्रेष्ठ हुए ब्रह्माजी भी जो अन्य देवताओं को नहीं मिल सकती ऐसी पदवी को पाये। विष्णुजी भी प्रणव के स्मरण से उस शक्ति को पाये जो जगत् को पालन करने में काम आती है। ऐसा बोल के वाल्मीकि मुनि को वसिष्ठजी ने बहुत मोलवाली सुन्दर मोतियों की माला दी॥

एवं महर्षिभिरथो मुनिभिः समस्तैः
शुश्रूषुभिः सदसमेत्य सुखोपविष्टैः।
वाल्मीकये च मुनये समदायि हर्षा
दाभूषणानि वसनान्युपवीतमर्घ्यः॥१९॥
केचित् कौपिनं परे क्षौमवासो
मुक्तामालां वज्रमालां तदन्ये।
वैडूर्याणां मालिकां विद्रुमाणां
माणिक्यानां ते वितेरुः स्वशक्त्या॥२०॥

अर्थ—इस पीछे इसी प्रकार सब मुनियों ने और महर्षियों ने जो सभा में आकर सुनने के लिये सुख से बैठे थे वाल्मीकि मुनि को हर्ष से आभूषण वस्त्र यज्ञोपवीत और अर्घ्य दिया। किसीने लँगोटी दी दूसरों ने रेशमी वस्त्र दिये और लोगों ने मोतियों की माला और हीरों की माला दी औरों ने वैडूर्य हरे मणियों की माला मूंगों की माला माणकों की माला अपनी अपनी शक्ति के अनुसार दी॥

स्वीकृत्य राममनितो दक्षिणादिदेवै-
र्नीत्य मादरमर्पितवस्तुजातम्।